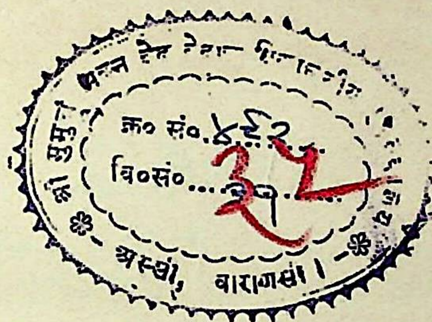
हिंदी-भाषा

हिंदी भाषा



लेखक

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०, डी० लिट्०



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४९

मूल्य २)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

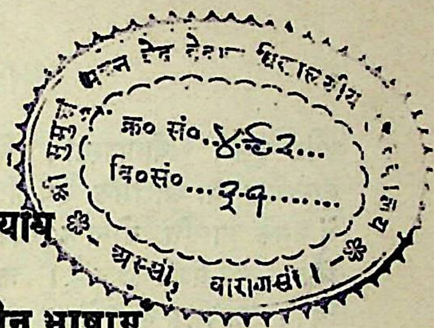
Printed by
A. Bose,
at The Indian Press,
Benares-Branch.

भूमिका

इस पुस्तक का पहले-पहल उदय मेरे 'भाषा-विज्ञान' के प्रथम संस्करण में हुआ। फिर यह परिमार्जित और संशोधित होकर 'हिंदी-शब्दसागर' की प्रस्तावना के प्रथम अंश में प्रकाशित हुई। इसके अनंतर यह मेरे 'हिंदी भाषा और साहित्य' ग्रंथ में सम्मिलित की गई। अब यह अलग स्वतंत्र पुस्तक रूप में प्रकाशित होती है। मेरे कुछ मित्रों की यह सम्मति हुई कि इसे अलग प्रकाशित करना ठीक होगा, जिसमें जो विद्यार्थी हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहे उसे यह पुस्तक सुलभ हो सके। इसी प्रकार साहित्य का अंश भी अलग प्रकाशित किया जायगा।

अध्यायों की सूची

——



पहला अध्याय

भारतवर्ष की प्राचीन भाषाएँ

विषय-प्रवेश

संसार में जितनी भाषाएँ हैं, उन सबका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक है; परंतु जो भाषाएँ जितनी ही अधिक प्राचीन होती हैं और जिन्होंने अपने जीवन में जितने अधिक उलट फेर देखे होते हैं, वे उतनी ही अधिक मनोहर और चित्ताकर्षक होती हैं। इस विचार से भारतीय भाषाओं का इतिहास बहुत कुछ मनोरंजक और मनोहर है। भारतवर्ष ने आज तक कितने परिवर्तन देखे हैं, यह इतिहास-प्रेमियों से छिपा नहीं है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव किसी जाति की स्थिति ही पर नहीं पड़ता, अपितु उसकी भाषा पर भी बहुत कुछ पड़ता है। भिन्न भिन्न जातियों का संसर्ग होने पर परस्पर भावों और उन भावों के द्योतक शब्दों का आदान-प्रदान होता है, तथा शब्दों के उच्चारण में भी कुछ कुछ विकार हो जाता है। इसी कारण के वशीभूत होकर भाषाओं के रूप में परिवर्तन हो जाता है और साथ ही उनमें नए नए शब्द भी आ जाते हैं। इस अवस्था में यदि वृद्ध भारत की भाषाओं की आरंभ की अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक में आकाश पाताल का अंतर हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अब यदि हम इस परिवर्त्तन का तथ्य जान सकें, तो हमारे लिये वह कितना मनोरंजक होगा, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। साथ ही भाषा अपना आवरण हटाकर अपने वास्तविक रूप का प्रदर्शन उसी को कराती है, जो उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित होने का अधिकारी है। इस प्रकार का अधिकार उसी को प्राप्त होता है जिसने उसके विकास का क्रम भली भाँति देखा है।

भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो उनके इतिहास को और भी जटिल, पर साथ ही मनोहर, बना देता है। भाषाओं के विकास की साधारणतः दो अवस्थाएँ मानी मानी गई हैं—एक वियोगावस्था

और दूसरी संयोगावस्था। वियोगावस्था में सब शब्द अपने अपने वास्तविक या आरंभिक रूप में अलग अलग रहते हैं और प्राय: वाक्यों में उनके आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा अथवा स्वराघात से उनका पारस्परिक संबंध प्रकट होता है। क्रमश: परिवर्तन होते होते कुछ शब्द तो अपने आरंभिक रूप में रह जाते हैं और कुछ परिवर्तित होकर प्रत्यय, विभक्ति आदि का काम देने लगते हैं। फिर ये प्रत्यय आदि घिस घिसाकर मूल शब्द के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता, अर्थात् जो शब्द पहले स्वतंत्र रहकर वाचक थे, वे अब संक्षिप्त तथा विकृत रूप धारण करके द्योतक मात्र रह जाते हैं। इस प्रकार भाषाएँ वियोगावस्था से संयोगावस्था में आ[1] जाती हैं। पर जैसे जातियों की स्थिति में परिवर्तन होता रहता है, वैसे ही भाषाएँ भी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाती रहती हैं। हमारा विषय भाषाओं का विवरण उपस्थित करना नहीं है, हमें तो केवल इस बात पर विचार करना है कि हमारी हिंदी भाषा का कैसे विकास हुआ है। अतएव पहले हम भारतीय भाषाओं का, प्राचीन अवस्था से लेकर अब तक का, संक्षिप्त इतिहास देकर तब मुख्य विषय पर आवेंगे।

प्राचीन आर्यों की भाषाएँ—वैदिक, संस्कृत

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या था, इसका पता लगना बहुत कठिन है। उस प्राचीन भाषा की कोई पुस्तक या लेख आदि नहीं मिलते। आर्य जाति की सबसे प्राचीन पुस्तक, जो इस समय प्राप्त है, ऋग्वेद है। इसकी ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न समयों और भिन्न भिन्न स्थानों में हुई है। किसी में कंधार में बसनेवाले आर्य-समूह के राजा दिवोदास का उल्लेख है, तो किसी में सिंधु नद के किनारे बसे हुए आर्यों के राजा सुदास का। अतएव वेदों में दिवोदास तथा सुदास के समयों के बने हुए मंत्रों का समावेश है। साथ ही कुछ मंत्र कंधार में रचे गए, कुछ सिंधु के किनारे, और कुछ यमुना-तटों पर। पीछे से जब सब मंत्रों का संपादन करके उनका क्रम लगाया

१. आरंभ में यही मत मान्य था; पर आधुनिक अनुसंधान से यह सिद्धांत स्थिर हुआ है कि पहले भाषाओं की संयोगावस्था ही रहती है जिससे विकसित होकर वे वियोगावस्था में आती हैं। जो सदा से वियोगावस्था ही में रहीं और अब भी हैं उनकी बात दूसरी है।

गया, तब रचना-काल और रचना-स्थान का ध्यान रखकर यह कार्य नहीं किया गया। यदि उस समय इन दोनों बातों का ध्यान रखा जाता तो हम अत्यंत सुगमता से प्राचीनतम भाषा का नमूना उपस्थित कर सकते। फिर भी ध्यान देने से मंत्रों की भाषा में विभेद देख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में जब आर्य सप्तसिंधु प्रदेश में थे, तभी उनकी बोलचाल की भाषा ने कुछ कुछ साहित्यिक रूप धारण कर लिया था, पर तो भी उसमें अनेक भेद बने रहे। वेदों के संपादन-काल में मंत्रों का भाषा-विभेद बहुत कुछ दूर किया गया। तिस पर भी यह स्पष्ट है कि वेदों की भाषा पर उस समय की कुछ प्रांतीय अथवा देश-भाषाओं का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा था। केवल अनेक व्यक्तियों के अनेक प्रकार के उच्चारणों के कारण ही यह भेद नहीं हुआ था, अपितु देशी या अन्यान्य शब्दों का संमिश्रण भी इसका एक प्रधान कारण था।

ज्यों ज्यों आर्यगण अपने आदिम स्थान से फैलने लगे और तत्कालीन अनार्यों से संपर्क बढ़ाने लगे, त्यों त्यों भाषा भी विशुद्ध न रहकर मिश्रित होने लगी। विभिन्न स्थानों के आर्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। कोई "क्षुद्रक" (छोटा) कहता था तो कोई "क्षुल्लक"। "तुम दोनों" के लिये कोई 'युवां' बोलते थे, कोई "युवं" और कोई केवल "वां"। "पश्चात्—पश्चा", "युष्मासु—युष्मे", "देवाः—देवासः", "अवणा—श्रोणा", "अवद्योतयति—अवज्योतयति", "देवैः—देवेभिः" आदि आदि अनेक रूप बोले जाते थे। कुछ लोग विभक्ति न लगाकर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे, (यथा, "परमे व्योमन्") तो कुछ शब्द के ही अंग भंग करने पर सन्नद्ध थे। "आत्मना" का "त्मना" इसका अच्छा निदर्शन है। कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप में बोलता तो दूसरा दूसरे रूप में। एक "ड" भिन्न भिन्न स्थलों में ल, ळ, ढ, ल्ह, सभी बोला जाता था। यों ही अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इस प्रकार जब विषमता उत्पन्न हुई और एक स्थल के आर्यों को अन्य स्थल के अधिवासी अपने ही सजातीयों की बोली समझने में कठिनता होने लगी, तब उन लोगों ने मिलकर अपनी भाषा में व्यवस्था करने का उद्योग किया। प्रांतीयता का मोह छोड़कर सार्वदेशिक, सर्वबोध्य और अधिक प्रचलित शब्द ही टकसाली माने गए। भाषा प्रादेशिक से

राष्ट्रीय बन गई। अपनी अपनी डफली अपना अपना राग बंद हुआ। सभी कम से कम साहित्यिक और सार्वजनिक व्यवहारों में टकसाली भाषा का प्रयोग करने लगे, इसलिये भाषा भी मँज सँवरकर संस्कृत (= शुद्ध) हो गई। जो स्थान आजकल हमारी हिंदी को प्राप्त है, एवं प्राकृत-काल में जो महाराष्ट्री[१] को प्राप्त था, वही स्थान उस समय संस्कृत का था। आर्याधिष्ठित सभी प्रदेशों में यह बोली और समझी जाती थी। जो लोग इसे नहीं बोल सकते थे, वे समझ अवश्य लेते थे। आज भी खड़ी बोली बोलनेवाले नागरिक और अपनी ठेठ हिंदी का ठाठ दिखानेवाले देहाती के संवाद में वही झुटपुटी झलक रहती है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी ही नहीं, वह तो केवल ब्राह्मणों की गढ़ी यज्ञ में बोली जानेवाली पाधा पुरोहितों की बोली—क्या ठठोली—थी, उनको इस पर विचार करना चाहिए। पाणिनि मुनि ने शब्दानुशासन किया है, शब्दशासन नहीं। शब्दों पर शासन करते हैं—वक्ता, लेखक और कवि। वैयाकरण बेचारा तो उन्हीं के राज्य में रहकर केवल लेखा लिया करता है। इसलिये पाणिनि ने जो अपने व्याकरण में खेती पाती, लेन देन, वणिज व्यापार, चुंगी झरी, कर पोत, लुहारी सुनारी, बढ़ईगिरी; ढोल ढमक्का, चिड़िया चुनमुन, फूल पत्ती, नाप जोख आदि आदि के अतिरिक्त पूर्वी उत्तरी प्रयोग, मुहाविरे बोलचाल आदि लिखे हैं, कात्यायन तथा पतंजलि ने जो अनेक व्यवहार-सात्त्विक सूक्ष्म विवेचन किए हैं, वे उनके मन के मनसूबे नहीं, किंतु गंभीर गवेषणा, सारवान् सर्वेक्षण, व्यापक विचार और उस व्याकरणपटुता के परिणाम हैं जो अभी अभी थोड़े दिन हुए अँगरेजी जैसी समृद्ध राजभाषा में फलीभूत हुए हैं।

पहले संस्कृत शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। "संस्कृता वाक्"* ठीक उसी भाषा को कहते थे जिसे उर्दूवाले "शुस्ता ज़ुबान"

---

१. विशेष अनुसंधान से यह बात विदित हुई है कि महाराष्ट्री शौरसेनी का ही एक विकसित रूप थी और इस विकास का कारण उसकी व्यापकता थी।

* यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥

वा० रा०, सुं० ३० । १८ ।

या अँगरेजीदाँ Refined speech कहते हैं। प्रत्येक भाषा यदि वह व्यवहारक्षम, शिष्टप्रयुक्त और व्यापक है तो समय पाकर संस्कृत बन जाती है। हमारी आज की हिंदी यदि संस्कृत कही जाय तो कोई अनुचित नहीं। पीछे जैसे "उर्दू-हिंदी" से केवल "उर्दू" रह गई, वैसे ही "संस्कृत-वाक्" से केवल 'संस्कृत' शब्द ही उस विशिष्ट भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी; एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। इस प्रकार साहित्यकारों की कृति और वैयाकरणों की व्याकृति से संस्कृत परिष्कृत होकर बहुत दिनों तक अखंड राज्य करती रही।

सब दिन बराबर नहीं जाते। संस्कृत सर्व-गुण-संपन्न थी सही, पर धीरे धीरे उसका चलन कम होने लगा। वह राष्ट्रीय से सांप्रदायिक हो चली। इसके कई कारण थे। एक तो वह सर्व साधारण की भाषा न होने के कारण प्रयोक्ता के मुख अथवा लेखनी से प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये अबुद्धिपूर्व न निकलकर उसकी अभिज्ञता की अपेक्षा रखती थी। दूसरे, इसके प्रयोगकर्त्ता आर्यजन किसी एक प्रदेश में ही अवरुद्ध न होकर उत्तरोत्तर अपना विस्तार करते, अन्य भाषा-भाषियों से संपर्क बढ़ाते तथा नित्य नए भावों और उनके अभिव्यंजक साधनों का आदान प्रदान करते जाते थे। तीसरा और सबसे प्रधान कारण धार्मिक विप्लव था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने प्रांतीय बोलियों में ही अपना धर्मोपदेश आरंभ किया। साधारण जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनके बहुत से अनुयायी हो गए। उनका धर्म भी भिन्न हो गया, भाषा भी भिन्न हुई। इस प्रकार इन दो धर्म-संस्थापकों का आश्रय पाकर प्रांतीय बोलियाँ भी चमक उठीं और संस्कृत से बराबरी का दावा करने लगीं। उधर वैदिक धर्मानुयायी और अधिक दृढ़ता से अपनी भाषा की रक्षा करने लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत एक संप्रदाय की भाषा बन गई।

हम पहले कह चुके हैं कि वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार, बन गई। अपनी योग्यता से उसने अमर-वाणी का पद तो पाया, पर आगे कोई न होने के कारण उसकी वह

अमरता एक प्रकार का भार हो गई। उधर उसकी दूसरी बहिन जो रानी न बनकर प्रजापक्ष के हितचिंतन में निरत थी, जो केवल आर्यों के अवरोध में न रहकर अन्य अनार्य रमणियों से भी स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती जुलती थी, संतानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होने के कारण उसने अपनी माता से समय समय पर जो संपत्ति प्राप्त की, वह निःसंतान संस्कृत को न मिल सकी। यदि रूपक का परदा हटाकर सीधे शब्दों में कहें तो बात यह हुई कि वेदकालीन कथित भाषा से ही संस्कृत भी उत्पन्न हुई और अनार्यों के संपर्क का सहकार पाकर अन्य प्रांतीय बोलियाँ भी विकसित हुईं। संस्कृत ने केवल चुने हुए प्रचुरप्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भंडार भरा, पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति-स्वच्छंदता को भरपेट अपनाया। यही उनके प्राकृत (स्वाभाविक या अकृत्रिम) कहलाने का कारण है, यही उनमें वैदिक भाषा की उन विशेषताओं के उपलब्ध होने का रहस्य है जो संस्कृत में कहीं देख नहीं पड़तीं।

वैदिक भाषा की विशेषताएँ जो संस्कृत में न मिलकर प्राकृतों में ही उपलब्ध होती हैं उनके विषय में थोड़े से उदाहरणों का निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा। प्राकृत में व्यंजनांत शब्द का प्रायः प्रयोग नहीं होता। संस्कृत के व्यंजनांत शब्द का अंतिम व्यंजन प्राकृत में लुप्त हो जाता है। जैसे—संस्कृत के 'तावत्' 'स्यात्' 'कर्मन्' प्राकृत में क्रमशः 'ताव' 'सिया' 'कम्म' हो जायँगे। प्राकृत में यह निरपवाद है। अब वैदिक भाषा लीजिए। उसमें दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। 'कर्मणः कर्मणा' आदि भी और 'देवकर्मेभिः' (ऋ० १०। १३०। १) भी; 'पश्चात्' (अथ० ४। १०। ३) भी; और 'पश्चा' (अथ १०। ४। ११, शत० ब्रा० १। १। २। ५) भी; (प्राकृत में इसी से 'पच्छा' और हिंदी में 'पाछ' या 'पाछा' निकला है) 'युष्मान्' (ऋ० १। १६१। १४, तै० सं० १। १। ५) भी और 'युष्मा' (वा० सं० १। १३। १, श० ब्र० १। २। ९) भी; 'उच्चात्' के स्थान में 'उच्चा' (तै० सं० २। ३। १४) और 'नीचात्' के स्थान में 'नीचा' (तै० सं० १। २। १४) भी। पर संस्कृत में इस प्रकार व्यंजन का लोप नहीं होता। 'पश्चार्ध' शब्द का प्रयोग देखकर कात्यायन को एक नया वार्तिक कहना पड़ा। प्राकृत में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया करते हैं।

जैसे—'कर्तव्य = कातव्व', 'निश्वास = नीसास', 'दुर्हार = दूहार', (हिंदी—'धर्म = घाम', 'चर्म = चाम', 'दुर्लभ = दूलह', 'भिल्ल = भील', 'शुष्क = सूखा', 'मुद्ग = मूँग', 'निम्ब = नीम', इत्यादि)। वैदिक भाषा में भी ऐसा होता है—'दुर्दभ = दूडभ', (वा० सं० ३। ३६, ऋ० ४। ९। ८) 'दुर्नाश = दूणाश' (शु० य० प्रतिशा० ३। ४३)। स्वरभक्ति का प्रयोग दोनों भाषाओं में प्रचुरता से होता है। प्राकृत—'क्लिन्न = किलिन्न', 'स्व = सुव', (हिंदी—'मिश्र = मिसिर', 'धर्म = धरम', 'गुप्त = गुपुत', 'ग्लास = गिलास'), वैदिक—'तन्वः = तनुवः' (तैत्ति० आर० ७। २२। १), 'स्वः = सुवः' (तैत्ति० आर० ६। २। ७) 'स्वर्गः = सुवर्गः' (तैत्ति० सं० ४। २। ३, मैत्र० ब्रा० १। १। १) 'रात्र्या = रात्रिया', 'सहस्र्यः = सहस्रियः' इत्यादि। दोनों ही में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे फिर संकुचित कर देते हैं। प्राकृत—'राजकुल = राउल' (मिलाओ—पु० हिं० राउर) 'कालायस = कालास' इत्यादि; वैदिक—'शतक्रतवः = शतक्रत्वः', 'पशवे = पश्वे', 'निविविशिरे = निविविश्रे' इत्यादि। शौरसेनी प्राकृत में अकारांत शब्द प्रथमा के एकवचन में ओकारांत हो जाता है। जैसे 'देवः = देवो', 'सः = सो' इत्यादि। वैदिक भाषा में भी ऐसा प्रयोग दुर्लभ नहीं। 'सः चित् = सो चित्' (ऋ० १। १९। १), 'संवत्सरः अजायत = संवत्सरो अजायत' इत्यादि। इस बात की पुष्टि में और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं। यद्यपि लोगों ने समय समय पर प्राकृत को नियमित और बद्ध करने का प्रयत्न किया, तथापि बोलचाल की उस भाषा का प्रवाह किसी न किसी रूप में चलता रहा, उसमें कोई रुकावट न हो सकी। यही 'प्राकृत' अथवा बोलचाल की आर्य-भाषा क्रमशः आधुनिक भारतीय देशभाषाओं के रूपों में प्रकट हुई।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जन साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद-मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण ग्रंथों तथा सूत्र-ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोलचाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ, वह भी बनी रही; पर इस समय हमें उसके प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो इस समय हमें

प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में है। उसी को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य होते हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। यह नाम भाषा के साहित्यारूढ़ होने के पीछे का है जब कि इस पर शौरसेनी का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा और उसी के अनुसार ओकारांत रूप इसमें प्रयुक्त होने लगे। पहले त्रिपिटक की मूल पंक्तियों के लिये इसका प्रयोग होता था। है भी यह 'पंक्ति' शब्द से ही निकला हुआ। 'पंक्ति' से 'पंत्ति' 'पत्ती' (दे० धेनुपत्ती; विदग्ध-माधव पृ० १८); 'पत्ती' से 'पट्टी', (इसका प्रयोग 'कतार' के अर्थ में अब भी होता है) 'पट्टी' से 'पाटी' और उससे 'पाली'। इस पाली को तंत्ति, मागधी या मागधीनिरुक्ति भी कहते थे। पर यह मागधी अर्वाचीन मागधी से बहुत भिन्न थी। यही उस समय बोलचाल की भाषा थी। बुद्धदेव यही बोलते थे। बौद्ध इसी को आदि भाषा मानते और बड़े गर्व से पढ़ा करते हैं—

'सा मागधी मूलभाषा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्माणो च स्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे॥'

'आदि कल्प में उत्पन्न मनुष्यगण, ब्रह्मगण, संबुद्धगण, एवं वे व्यक्ति-गण जिन्होंने कभी कोई शब्दालाप नहीं सुना, जिसके द्वारा भाव प्रकाशन किया करते थे वही मागधी भाषा मूल भाषा है।' वैदिक भाषा में नहीं किंतु इसी भाषा में बुद्धदेव अपना धर्मचक्रप्रवर्त्तन करना चाहते थे, इस संबंध में विनयपिटक में एक कहानी है। उसमें लिखा है—यमेल और उतेकुल नाम के दो ब्राह्मण भ्राता भिक्षु थे। उन्होंने एक दिन बुद्धदेव से निवेदन किया कि "भगवन्! इस समय भिन्न भिन्न गोत्र और जाति-कुल के प्रव्रजित अपनी अपनी भाषा में कहकर आपके वचन दूषित कर रहे हैं। हम उन्हें छंद (=वेदभाषा=संस्कृत) में परिवर्तित करना चाहते हैं।" बुद्धदेव ने उनका तिरस्कार कर कहा—"भिक्षुओ! बुद्ध-वचन को छंद में कभी परिणत न करना। जो करेगा, वह दुष्कृत का अपराधी होगा। हे भिक्षुगण! बुद्धवचन को अपनी ही भाषा में ग्रहण करने की मैं अनुज्ञा करता हूँ।" "अपनी भाषा" से बुद्धघोष ने यहाँ मागधी भाषा ली है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धदेव जान बूझकर संस्कृत का वर्जन करना चाहते थे और अपना धर्म देशभाषा ही के द्वारा फैलाना चाहते थे। उसके अनंतर मध्य काल की प्राकृत और

अंत में उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश का समय आता है। इसी उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक देशभाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ है।

पहली प्राकृत या पाली

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पहली प्राकृत या पाली के उदाहरण हमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथों तथा शिलालेखों में मिलते हैं। शिलालेखों में अशोक के लेख बड़े महत्त्व के हैं। वे खरोष्ट्री और ब्राह्मी दो लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेख तो खरोष्ट्री में लिखे हुए हैं और शेष सब ब्राह्मी लिपि में हैं। इन सब लेखों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक के समय में कम से कम चार बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें से सबसे मुख्य मगध की पाली थी, जिसमें पहले पहल वे लेख लिखे गए होंगे, और उन्हीं के आधार पर गिरनार, जौगढ़ तथा मानसेरा के लेख प्रस्तुत किए गए होंगे। यद्यपि एक ओर शहबाजगढ़ी और गिरनार के लेखों की भाषा में और दूसरी ओर धौली, जौगढ़ आदि के लेखों की भाषा में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है, और इसी समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह माना है कि अशोक के समय की पाली दो मुख्य भागों में विभक्त हो सकती है, तथापि इनमें विभिन्नता भी कम नहीं है। अतएव इन्हें एक ही कहना ठीक नहीं।

दूसरी या साहित्यिक प्राकृत

पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध-मागधी। इनमें से महाराष्ट्री सबसे प्रधान मानी गई है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री के विषय में विशेष रूप से लिखा है; और दूसरे प्राकृतों के विशेष नियम देकर यही लिख दिया है कि शेष सब बातें महाराष्ट्री के समान हैं। प्राकृत का अधिकांश साहित्य भी महाराष्ट्री ही में लिखा मिलता है। एक प्रकार से महाराष्ट्री उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी; इसलिये महाराष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है। शौरसेनी मध्यदेश की प्राकृत है और शूरसेन देश (आधुनिक व्रज-मंडल) में इसका प्रचार होने के कारण यह शौरसेनी कहलाई। मध्य देश में ही साहित्यिक संस्कृत का अभ्युदय हुआ था, और वहीं की बोल-चाल की भाषा से साहित्य की शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ।

अतएव यह अनिवार्य था कि इस प्राकृत पर संस्कृत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता। इसी कारण शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत में बहुत समानता देख पड़ती है। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था।

प्राचीन काल में कुरु पंचाल तथा पश्चिम के अन्य लोग कोसल (अवध), काशी (बनारस के चारों ओर), विदेह (उत्तर बिहार) और मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) वालों को प्राच्य कहते थे। अब भी दिल्ली मेरठ आदि के रहनेवाले इधरवालों को पूर्विया और यहाँ की भाषा को पूरबी हिंदी कहा करते हैं। इन्हीं प्राच्यों की प्राच्या भाषा का विकास दो रूपों में हुआ। एक पश्चिम प्राच्या, दूसरी पूर्व प्राच्या। पश्चिम प्राच्या का अपने समय में बड़ा प्रचार था, पर पूर्व प्राच्या एक विभाग मात्र की भाषा थी। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार हम पश्चिम प्राच्या को अर्धमागधी और पूर्व प्राच्या को मागधी कह सकते हैं। यह प्राचीन अर्ध-मागधी कोसल में बोली जाती थी, अतः बुद्धदेव की यही मातृ-भाषा थी। इसी से मिलती जुलती भारतवर्ष के पूर्व खंडवासी आर्यों की भाषा थी जिसमें महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने धर्मोपदेश किया था और जिसका उस समय के राजकुल तथा राजशासन में प्रयोग होता था। मध्य तथा पूर्व देशों में उपलभ्यमान एवं अशोक सम्राट् के शिलालेखों में प्रयुक्त तथा उसके राजकुल की भाषा में भी इस अर्धमागधी भाषा की बहुत सी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उस समय राजभाषा होने के कारण इसका प्रभाव आजकल अँगरेजी की तरह प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं पर था। इसी से इस अर्धमागधी की छाप गिरनार, शहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के लेखों पर भी क़ाफी पाई जाती है। पिपरहवा का पात्रलेख, सोहगौरा का शिलालेख तथा अशोक की पूर्वीय धर्मलिपियाँ एवं मध्य-एशिया में प्राप्त बौद्ध संस्कृत नाटक के लुप्तावशिष्ट अंश इसके प्राचीनतम प्रयोगस्थल हैं। जैनों के "समवायंग" में लिखा है कि महावीर स्वामी ने अर्धमागधी में धर्मोपदेश किया और वह भाषा प्रयोग में आते आते सभी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग के हित, कल्याण तथा सुख के लिये परिवर्तित होती गई, अर्थात् इसी मूल भाषा से प्राणिमात्र की भाषा का जन्म हुआ। जान पड़ता है कि महावीर स्वामी ने इस भाषा को सर्वबोध्य बनाने के लिये तत्काल प्रचलित अन्य भाषाओं के सुप्रसिद्ध शब्दों का भी इसमें यथेष्ट सन्निवेश किया जैसे कि

आजकल के रमते साधु लोग भी धर्मोपदेश में ऐसी ही खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया करते हैं। ऊपर के अर्थवाद का रहस्य तथा अर्धमागधी नाम का अभिप्राय यही है। मागधी तो थी ही, अन्य भाषाओं के मेल से वह पूरी मागधी न रही, अर्धमागधी हो गई। इसी अर्धमागधी से अर्द्धमागधी अपभ्रंश और उससे आजकल की पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी, बघेली आदि निकली हैं।

अर्धमागधी कोसल में बोली जाती थी और कोसल शूरसेन तथा मगध के बीच में पड़ता है। अतः यह अनुमान हो सकता है कि वह शौरसेनी और मागधी के मिश्रण से बनी होगी; अनुमान क्या मार्कंडेय ने स्पष्टतः लिखा भी है कि "शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी" (प्रा० सर्व० १०३), पर वास्तव में यह बात नहीं है। अनेक अंशों में वह मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से मिलती है और कुछ अंशों में उसका इनसे विभेद भी है, पर शौरसेनी से उसका बहुत विभेद है। क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार (५।९८) में स्पष्ट ही लिखा है—"महाराष्ट्री मिश्रार्धमागधी" अर्थात् महाराष्ट्री के मेल से अर्ध-मागधी हुई। आधुनिक देश-भाषाओं के विचार से पश्चिमी हिंदी और बिहारी के बीच की भाषा पूर्वी हिंदी है और उसमें दोनों के अंश वर्त्तमान हैं। आधुनिक भाषाओं के विवेचन के आधार पर अंतरंग, बहिरंग और मध्यवर्त्ती भाषाओं के ये तीन समूह नियत किए गए हैं। यदि हम अर्धमागधी को मध्यवर्त्ती भाषाओं की स्थानापन्न मान लें, तो प्राकृत काल की भाषाओं का विभाग इस प्रकार होगा—

बहिरंग प्राकृत—महाराष्ट्री और मागधी।
मध्यवर्ती प्राकृत—अर्धमागधी।
अंतरंग प्राकृत—शौरसेनी।

पैशाची प्राकृत

अनेक विद्वानों ने पैशाची भाषाओं को भी प्राकृतों में गिना है। वररुचि ने प्राकृतों के अंतर्गत चार भाषाएँ गिनाई हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचंद्र ने केवल तीन प्रकार की प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—आर्ष अर्थात् अर्धमागधी, चूलिकापैशाचिका और अपभ्रंश। दूसरी भाषा का दूसरा नाम भूतभाषा भी है, जो गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) से अमर हो गई है, पर यह ग्रन्थ इस समय नहीं मिलता। हाँ, दो कश्मीरी

पंडितों, क्षेमेंद्र और सोमदेव, के किए हुए इसके संस्कृत अनुवाद अवश्य मिलते हैं। कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच या पिशाश (कच्चा मांस खानेवाला) देश कहलाता था, और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने के कारण पैशाची भाषा वहीं की भाषा मानी जाती है। कुछ लोग इसे पश्चिम-उत्तर प्रदेश की और कुछ राजपूताना और मध्यभारत की भाषा भी मानते हैं। किंतु प्राचीन ग्रंथों में पिशाच के नाम से कई देश गिनाए गए हैं—

पाण्ड्यकेकयवाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुदेष्ण-वोट-गन्धार-हैव-कन्नौजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्॥

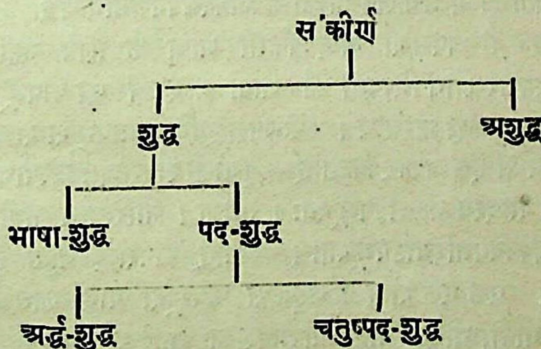
इसमें कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक नहीं हो सकी। मार्कंडेय ने अपने व्याकरण 'प्राकृतसर्वस्व' में पैशाची के जो नियम लिखे हैं, उनमें से एक है—'पञ्चस्वाद्यावितरयोः'। इसका अर्थ यह है—पाँचों वर्गों में तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान में प्रथम और द्वितीय वर्ण होते हैं। इसकी प्रवृत्ति पंजाबी भाषा में देख पड़ती है। उसमें साधारणतः लोग भाई का पाई, अध्यापक का हत्तापक, घर का कर, धन्य का तन्न या इससे कुछ मिलता जुलता उच्चारण करते हैं। उसमें एक और नियम "युक्तविकर्षो बहुलम्" (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) भी देख पड़ता है। कसट, सनान, परस, पतनी आदि उदाहरण पंजाबी में दुर्लभ नहीं। इससे जान पड़ता है कि चाहे पैशाची पंजाब की भाषा न भी रही हो, पर उसका प्रभाव अवश्य पंजाबी पर पड़ा है।

राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय की भाषाओं का स्थल-निर्देश है—गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाट (गुजरात) देशियों की रुचि प्राकृत में परिमित है, मरुभूमि, टक्क (टाँक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक (संभवतः यह राजपूताना का कोई प्रांत था) के वासी भूत भाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है। इससे उस समय किस भाषा का कहाँ अधिक प्रचार था, इसका पता चल जाता है। मार्कंडेय और

रामशर्मा ने अपने व्याकरणों में इस भाषा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने एक लेख में रामशर्मा के प्राकृत-कल्पतरु के उस अंश का विशेष रूप से वर्णन किया है, जिसमें पैशाची भाषा का विवरण है। उस लेख में बतलाया गया है कि रामशर्मा के अनुसार पैशाची या पैशाचिका भाषा के दो मुख्य भेद हैं—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण। पहली तो शुद्ध पैशाची, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, और दूसरी मिश्र पैशाची है। पहली के सात और दूसरी के चार उपभेद गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कैकेय पैशाचिका,
(२) शौरसेनी पैशाचिका,
(३) पांचाल पैशाचिका,
(४) गौड़ पैशाचिका,
(५) मागध पैशाचिका,
(६) व्राचड पैशाचिका,
(७) सूक्ष्मभेद पैशाचिका।

संकीर्ण पैशाचिका पहले दो प्रकार की कही गई है—शुद्ध और अशुद्ध, फिर शुद्ध के दो उपभेद किए गए हैं—एक भाषा-शुद्ध और दूसरी पद-शुद्ध। पद-शुद्ध पैशाचिका के पुनः दो भेद किए गए हैं—अर्द्ध-शुद्ध और चतुष्पद-शुद्ध। संक्षेप में इस पैशाचिका के भेद और उपभेद इस प्रकार हैं—



ऊपर हम प्राकृत की पूर्वकालिक और मध्यकालिक अवस्थाओं का विवेचन कर चुके हैं। यह एक निर्विवाद सिद्धांत है कि बोल-चाल

की भाषा में जितना शीघ्र परिवर्तन होता है, उतना शीघ्र साहित्य की भाषा में नहीं होता। जब प्राकृत ने साहित्य में पूर्णतया प्रवेश पा लिया और वह शिष्ट लोगों के पठन-पाठन तथा ग्रंथ-निर्माण की भाषा हो गई, तब बोलचाल की भाषा अपनी स्वतंत्र धारा में बहती हुई जन-समुदाय के पारस्परिक भाव-विनिमय में सहायता देती रही। इसी बोलचाल की भाषा को वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' नाम दिया है। भामह और दंडी के उल्लेख तथा वलभी के राजा धरसेन के शिलालेख से पता लगता है कि ईसा की छठी शताब्दी में 'अपभ्रंश' नाम की भाषा में कुछ न कुछ साहित्यिक रचना होने लगी थी। यों तो ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखित पउमचरिअ नामक प्राकृत ग्रंथ में भी अपभ्रंश के कुछ लक्षण मिलते हैं; पर और पोषक प्रमाण न मिलने के कारण विद्वान् 'अपभ्रंश' की इतनी प्राचीनता नहीं स्वीकार करते। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में विक्षिप्त पुरूरवा की उक्ति में छंद और रूप दोनों के विचार से कुछ कुछ अपभ्रंश की छाया देख पड़ती है और इसलिये अपभ्रंश का काल और भी दो सौ वर्ष पहले चला जाता है; पर उसमें अपभ्रंश के अत्यंत साधारण लक्षण—जैसे, पदांतर्गत 'म' के स्थान में 'वँ' और स्वार्थिक प्रत्यय 'इल्ल' 'अल्ल' तथा 'ड'—न मिलने के कारण उसे भी याकोबी आदि बहुत से विद्वान् पाठांतर या प्रक्षिप्त मानते हैं। जो कुछ हो, पर यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य विद्यमान थे।

तीसरी प्राकृतिक या अपभ्रंश

आरंभ में अपभ्रंश शब्द किसी भाषा के लिये नहीं प्रयुक्त होता था। साक्षर लोग निरक्षरों की भाषा के शब्दों को अपभ्रंश, अपशब्द या अपभाषा कहा करते थे। पतंजलि मुनि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग महाभाष्य में इस प्रकार किया है—भूयांसो ह्यपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश पाए जाते हैं; जैसे—गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं। यहाँ अपभ्रंश शब्द से पतंजलि उन शब्दों का ग्रहण करते हैं जो उनके समय में संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर बोले जाते थे। ऊपर के अवतरण में

जिन अपभ्रंशों का उल्लेख है, उनमें 'गावी' बँगला में 'गाभी' के रूप में और 'गोणी' पाली से होता हुआ सिंधी में ज्यों का त्यों अब तक प्रचलित है। शेष शब्दों का पता अन्वेषकों को लगाना चाहिए। आर्य अपने शब्दों की विशुद्धता के कट्टर पक्षपाती थे। वे पहले अपशब्द ही के लिये म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। पतंजलि ने लिखा है—न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। अर्थात् म्लेच्छ = अपभाषण न करना चाहिए, क्योंकि अपशब्द ही म्लेच्छ है। अमर ने इसी धातु से उत्पन्न म्लिष्ट शब्द का अर्थ 'अविस्पष्ट' किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आर्य शुद्ध उच्चारण करके अपनी भाषा की रक्षा का बड़ा प्रयत्न करते थे; और जो लोग उनके शब्दों का ठीक उच्चारण न कर सकते थे, उन्हें और उनके द्वारा उच्चरित शब्दों को म्लेच्छ कहते थे। म्लेच्छ शब्द उस समय आजकल की भाँति घृणा वा निंदा-व्यंजक नहीं था।

अस्तु; जब मध्यवर्ती भाषाओं (पाली, शौरसेनी, तथा अन्य प्राकृतों) का रूप स्थिर होकर साहित्य में अवरुद्ध हो गया एवं संस्कृत के समान शिष्टों के प्रयोग में वह आने लगा, तब साधारण जनता ने फिर प्रचलित तथा प्रादेशिक रूपों को अपनाना आरंभ कर दिया। भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उकारांत संज्ञा, शब्द तथा अन्य नए रूप, जो पाँचवीं या छठवीं शताब्दी में प्रयुक्त नहीं होते थे, प्रचुरता से काम में लाए जाने लगे; और पूर्व-निर्धारित प्राकृतों से भेद करने के लिये इस नवीन लक्षणवती भाषा का नाम अपभ्रष्ट या अपभ्रंश पड़ गया। पहले तो साक्षर इसका आदर नहीं करते थे, पर पीछे इसका भी मान हुआ और इसमें भी प्रचुरत से साहित्यरचना होने लगी। आजकल जैसे खड़ी बोली की कविता जब छाया की माया में पड़कर दुर्बोध हो चली है, तब साधारण जन अपना मनोरंजन, आल्हा, बिरहा, लुरकी, लचारी, चाँचर, रसिया अथवा भैरो की कजली से कर रहे हैं और जैसे इनका प्रचार कहीं ग्राम्यगीतों के संग्रह के रूप में और कहीं भैरो-संप्रदाय के रूप में बढ़ रहा है, ठीक़ वही दशा उस समय अपभ्रंश की भी थी। हेमचंद्र ने प्राचीन तथा प्रचुरप्रयुक्त पदावली का अनुसरण कर साहित्य में प्रतिष्ठित इस भाषा का व्याकरण भी लिख डाला। इस प्रकार अपभ्रंश, नाटकों की प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के मध्य में वर्त्तमान, सर्वमान्य भाषा हो गई।

यों तो पूर्वी भाषाएँ भी अपभ्रंश के पुट से बची नहीं हैं; पर गुजरात, राजपूताना तथा मध्यदेश (दोआब) में बोली जानेवाली भाषाओं में विशेषकर अपभ्रंश के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। दसवीं और परवर्ती शताब्दियों में मध्यदेश की शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा रही। मध्यदेश तथा गंगा की तराई में प्रतिष्ठित राजपूतों के राज्य तथा उनकी शक्ति ही इसका मूल कारण थी। गुजरात के जैनों ने भी इसकी बड़ी उन्नति की। यह प्रायः एक प्रकार की खिचड़ी भाषा हो गई थी। प्राकृतसर्वस्व में मार्कंडेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंशों का निश्चय किया है। पहली नागर अपभ्रंश जो प्रायः राजस्थानी-गुजराती की मूलभूत उन बोलियों पर आश्रित है जिनमें प्रचुरता से शौरसेनी का भी मेल पाया जाता था। दूसरी व्राचड जो सिंध में प्रचलित थी; और तीसरी उपनागर, नागर और व्राचड भाषाओं का मिश्रण थी जिसका प्रचार पश्चिमी राजपूताने तथा दक्षिणी पंजाब में था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जितने प्रकार की प्राकृत थी, उतने ही प्रकार की अपभ्रंश भी थी और देशभेद के कारण ही उसके भेद उपभेद भी हुए थे। पर उनके उदाहरण नहीं मिलते। पूर्व में अशोक के अनंतर वहाँ की प्रादेशिक भाषा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई। कम से कम मागधी की तो नहीं ही हुई। यह एक बहुत ही हीन भाषा मानी जाती थी, जैसा नाटकों में नीच पात्रों के लिये इसके प्रयोग का निर्देश बतलाता है। अर्धमागधी और मागधी के प्रदेशों में भी शौरसेनी ही साहित्य के लिये उपयुक्त समझी जाती थी। अपभ्रंश काल के पूरब के कविजन भी अपनी प्रांतीय विभाषा का प्रयोग न कर शौरसेनी अपभ्रंश ही का प्रयोग करते थे। यह परंपरा बहुत दिनों तक चली। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की पुरानी बँगला कविताओं में भी इसी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। मिथिला के विद्यापति (१४५० वि०) ने मैथिली के साथ साथ "अवहट्ठ" या "अपभ्रष्ट" में भी कविता की। यह 'अवहट्ठ' शौरसेनी अपभ्रंश का ही अर्वाचीन रूप था। इधर व्रज-भाषा को भी उसी अपभ्रंश की विरासत मिली थी, जिसे अब खड़ी बोलीवाले छीनना चाहते हैं। इस प्रकार यह अपभ्रंश उस समय के समस्त आर्यों की राष्ट्र-भाषा थी, जो गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक प्रचलित थी।

डाक्टर कीथ ने अभी थोड़े दिन हुए "संस्कृत साहित्य का इतिहास" लिखा है। उसके पहले खंड में उन्होंने भाषाओं का विवेचन किया है। अपभ्रंश के विषय में उनकी सम्मति हमारे निष्कर्ष के प्रतिकूल है। अतएव उस संबंध में यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। उन्होंने दंडी और रुद्रट का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश कभी किसी रूप में देश-भाषा न थी। वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमण-कारियों की भाषा थी और उन्हीं के साथ-साथ उसका प्रसार और उसकी प्रतिष्ठा हुई, अतएव उसे मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्य-भाषाओं की बिचली कड़ी मानना ठीक नहीं है। इस मत के प्रवर्तक पिशल और ग्रियर्सन दोनों ने भ्रम फैलाया है, इत्यादि। हमें यहाँ पिशल और ग्रियर्सन का पक्ष लेकर उनके मत का समर्थन नहीं करना है, हमें तो केवल यह कहना है कि अपभ्रंश देश-भाषा क्या एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा थी और उसका प्रचार समस्त उत्तरापथ में था। डाक्टर कीथ ने जिनके आधार पर अपना मत स्थिर करने का प्रयत्न किया है उनका आशय ही कुछ और है, जो डाक्टर कीथ के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दंडी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि काव्यों (दृश्य और श्रव्य दोनों) में आभीर आदि की बोली को तथा शास्त्रों (व्याकरण आदि) में संस्कृत-भिन्न भाषामात्र को अपभ्रंश कहते हैं। केवल इस उल्लेख के आधार पर यह सिद्धांत नहीं निकाला जा सकता कि अपभ्रंश आभीर आदि विदेशियों की बोली थी। नाट्य-ग्रंथों में जहाँ जहाँ भिन्न भिन्न पात्रों की बोलियों का निर्देश रहता है उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उस पात्र की परंपराप्राप्त अथवा जातीय बोली वही है। नाट्यकार इस विषय में केवल पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर पात्र विशेष की भाषा का निर्देश कर देते हैं। उससे यह कदापि न समझना चाहिए कि जिस पात्र की जो भाषा नाट्यशास्त्र में लिखी है वह उसकी मातृभाषा है। अथवा यदि यह मान भी लिया जाय कि आरंभ में जब आभीर आदि जातियों ने भारत में प्रवेश किया उस समय यहाँ प्रचलित प्राकृतों में उन्हीं के विकृत उच्चारण और उन्हीं के कुछ स्वकीय शब्दों के मेल से भ्रष्टता उत्पन्न हुई हो और इसी नाते अपभ्रंश का संबंध आभीर आदि जातियों से जोड़ा गया हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आरंभ से अंत तक अपभ्रंश उन्हीं

की बोली थी और उस दशा में भी उसमें इतना अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हुआ कि भारतवर्ष के प्रामाणिक अलंकारियों ने संस्कृत और प्राकृत के समान ही अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करना भी आवश्यक समझा। जिस प्रकार विदेशी मुसलमानों के संसर्ग से बनी हुई 'हिन्दुस्तानी' भाषा मुसलमानों की परंपरागत भाषा नहीं उसी प्रकार आभीर आदि के संपर्क से उत्पन्न अपभ्रंश भी केवल आभीरों की भाषा नहीं थी किंतु समस्त देश की भाषा थी जिसमें प्रचुरता से साहित्य निर्माण हुआ। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' में आभीरी को विभाषा लिखकर अपभ्रंश का पृथक् निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि आभीरों की जो बोली थी वह साहित्यिक भाषा नहीं थी। मार्कंडेय ने 'प्राकृतचंद्रिका' के श्लोक उद्धृत-कर बहुत सी अपभ्रंशों का उल्लेख किया है जो सब प्रांतीय विभाषाएँ जान पड़ती हैं। आजकल की हिंदी की भी तो बहुत सी विभाषाएँ संप्रति भी व्यवहार में आती हैं। इससे यह कोई नहीं कह सकता कि अवधी हिंदी ही हिंदी है, प्रायः समस्त उत्तरापथ में प्रचलित हिंदी हिंदी नहीं है। कीथ ने दूसरा प्रमाण रुद्रट का दिया है और उससे मालूम नहीं क्या समझकर यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रंश कभी देश-भाषा नहीं थी। आश्चर्य है कि जब रुद्रट ने स्पष्ट शब्दों में "षष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" लिखकर देशभेद के कारण अपभ्रंश की विभिन्नता का उल्लेख किया है और उसके टीकाकार नमिसाधु ने इस विषय को उदाहरणों के द्वारा नितांत विशद कर दिया है तब भी कीथ को कैसे संदेह हुआ। उसे पढ़कर कोई दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जा सकता। देशभेद के कारण जिस भाषा का भेद हो उसको देश-भाषा नहीं तो और क्या कहते हैं। अस्तु, इस प्रसंग को हम और अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि कीथ ने जिन आधारों पर अपने नए मत का निश्चय किया है वे ठीक नहीं हैं, अतएव वे सिद्धांत भी भ्रमात्मक हैं।

आगे चलकर प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई और केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी। पर उसका स्वाभाविक प्रवाह चलता रहा। क्रमशः वह भाषा एक ऐसे रूप को पहुँची जो कुछ अंशों में तो हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलता है और कुछ अंशों में अपभ्रंश से।

पुरानी हिंदी

आधुनिक हिंदी भाषा और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था कभी कभी 'अवहट्ठ' कही गई है। 'प्राकृतपैंगल' में उदाहरण रूप से सन्निविष्ट कविताएँ इसी अवहट्ठ भाषा में हैं। इसी अवहट्ठ को पिंगल भी कहते हैं और राजपूताने के भाट अपनी डिंगल के अतिरिक्त इस पिंगल में भी कविता करते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने इसे 'पुरानी हिंदी' नाम भी दिया है। यद्यपि इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश का कब अंत होता है और पुरानी हिंदी का कहाँ से आरंभ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट-छँट या सुधरकर साहित्यिक रूप धारण किया; पर साथ ही वह बोल-चाल की भाषा भी बनी रही। प्राचीन काल की बोल-चाल की भाषा को कुछ विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है। हमने उसका उल्लेख मूल भाषा के नाम से किया है। आगे चलकर यह पहली प्राकृत या मूल भाषा दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्त्तित हुई, जिसकी तीन अवस्थाओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन्हीं तीन अवस्थाओं का हमने पहली प्राकृत या पाली, दूसरी प्राकृत या शौरसेनी आदि प्राकृतें, और अपभ्रंश नामों से उल्लेख किया है। जब इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें भी साहित्य की रचना आरंभ हुई, तब बोल-चाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये आधुनिक देश-भाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं। इस इतिहास का यहाँ तक विवेचन करके यह कहना पड़ता है कि बोल-चाल की भाषा तथा साहित्य की भाषा में जब विशेष अंतर होने लगता है, तब वे भिन्न भिन्न मार्गों पर लग जाती हैं और उनका पृथक् पृथक् विकास होने लगता है।

आर्यों के सप्तसिंधु में बस जाने के उपरांत उनके वहाँ रहते समय ही उनकी भाषा ने वह रूप धारण किया था, जिसे आजकल लोग प्राचीन

संस्कृत कहते हैं। पर उस समय भी उसके कई प्रांतीय भेद और उपभेद थे। आजकल भारतवर्ष में जितनी आर्यभाषाएँ बोली जाती हैं, उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं प्रांतीय भेदों और उपभेदों से हुई है। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों में जो संस्कृत भाषा मिलती है, उसका विकास भी उन्हीं भेदों से हुआ था।

दूसरा अध्याय

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाएँ

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विवेचन से सिद्ध होता है कि कुछ भाषाएँ तो पूर्वागत आर्यों की भाषाओं से संबंध रखती हैं, जो इस समय भी मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं, और कुछ परागत आर्यों की भाषाओं से संबद्ध हैं। इस आधार पर हार्नले और ग्रियर्सन ने भारत की आधुनिक भाषाओं के दो मुख्य विभाग किए हैं। उनमें से एक विभाग की भाषाएँ तो उन प्रदेशों में बोली जाती हैं जो इस मध्य देश के अंतर्गत हैं; और दूसरे विभाग की भाषाएँ उन प्रदेशों के चारों ओर के देशों में अर्थात् कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिंध, महाराष्ट्र, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा आसाम में बोली जाती हैं। एक गुजरात प्रदेश ही ऐसा है, जिसमें बोली जानेवाली भाषा का संबंध बहिरंग भाषाओं से नहीं, वरन् अंतरंग भाषाओं से है; और इसका कारण कदाचित् यही है कि किसी समय इस गुजरात प्रदेश पर मथुरावालों ने विजय प्राप्त की थी और मथुरा नगरी उसी मध्य देश के अंतर्गत है।

अंतरंग और बहिरंग भाषाएँ

इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं में कई ऐसे प्रत्यक्ष अंतर और विरोध हैं, जिनसे इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट प्रकट होता है। पहले तो दोनों के उच्चारण में एक विशेष अंतर है। अंतरंग भाषाओं में बहुधा "स" का ठीक उच्चारण होता है; पर बहिरंग भाषाओं के भाषी शुद्ध दंत्य "स" का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते। वे उसका उच्चारण कुछ कुछ तालव्य "श" अथवा मूर्द्धन्य "ष" के समान करते हैं। ईरानी शाखा की फारसी आदि भाषाओं में बहुत प्राचीन काल से "स" के स्थान में "ह" कर देने की प्रवृत्ति देखने में आती है; जैसे, सप्त के स्थान में हफ़्त। यही बात बहिरंग भाषाओं में भी पाई जाती है। पंजाबी और सिंधी में "कोस"

दोनों भाषाओं में भेद

का "कोह" हो जाता है। इधर बँगला तथा मराठी में दंत्य "स" के स्थान में प्रायः "श" बोला जाता है। पूर्वी बंगाल तथा आसाम में वही "च" और "स" के बीच का एक नया उच्चारण हो जाता है; और पश्चिमी सीमा-प्रांत तथा कश्मीर आदि में वही शुद्ध "ह" हो जाता है। दोनों विभागों की संज्ञाओं के रूपों में भी एक विशेष अंतर देखने में आता है। अंतरंग भाषाओं के प्रायः सभी मूल प्रत्यय नष्ट हो गए हैं और उनका काम विभक्तियों से लिया जाता है, जो शब्दों के साथ जोड़ी जाती हैं; जैसे का, को, से, ने आदि। पर बहिरंग भाषाएँ इनकी अपेक्षा कुछ अधिक विकसित हैं।

भाषा-विज्ञान का सिद्धांत है कि भाषाएँ पहले वियोगावस्था में रहती हैं; और तब क्रमशः विकसित होते होते संयोगावस्था में आती हैं। प्रायः सभी अंतरंग भाषाएँ इस समय वियोगावस्था में हैं; पर बहिरंग भाषाएँ विकसित होते होते संयोगात्मक हो गई हैं। बहिरंग भाषाओं और अंतरंग भाषाओं में एक और अंतर यह है कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उनका पुरुष और वचन मालूम हो जाता है; पर अंतरंग भाषाओं में सभी पुरुषों में उन क्रियाओं का रूप एक सा रहता है। हिंदी में "मैं गया", "वह गया" और "तू गया" सबमें "गया" समान है; पर मराठी में "गेलों" से ही "मैं गया" का बोध होता है; और "गेला" से "वह गया" का। बँगला का "मारिलाम्" शब्द भी यही सूचित करता है कि उसका कर्त्ता उत्तम पुरुष है। तात्पर्य यह कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी अंतर्मुक्त होता है; पर अंतरंग भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

इस मत का अब खंडन होने लगा है और दोनों प्रकार की भाषाओं के भेद के जो कारण ऊपर दिखाए गए हैं, वे अन्यथा-सिद्ध हैं, जैसे 'स' का 'ह' हो जाना केवल बहिरंग भाषा का ही लक्षण नहीं है, किंतु अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी ऐसा ही होता है। इसके तस्य–तस्स–तास = ताह = ता (ताको, ताहि इत्यादि), करिष्यति–करिस्सदि–करिसइ–करिहइ–करिहै एवं केसरी से केहरि आदि बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार बहिरंग मानी जानेवाली भाषाओं में भी 'स' का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—राजस्थानी (जय-

पुरी)-करसी, पश्चिमी पंजाबी—करेसी इत्यादि। इसी प्रकार संख्या-वाचकों में 'स' का 'ह' प्रायः सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में पाया जाता है। यथा पश्चिमी हिंदी में—ग्यारह, बारह, चौहत्तर इत्यादि; एवं बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अंतर्भुक्त होना और अंतरंग भाषाओं में ऐसा न होना जो बड़ा भारी भेदक माना गया है, वह भी एक प्रकार से दुर्बल ही है। उस विषय का थोड़ा सा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं (पाली, प्राकृत आदि) से तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का लोप हो चला था। सकर्मक क्रियाओं का भूतकाल भूतकालवाची धातुज विशेषणों की सहायता से बनाया जाने लगा था। कर्म इन धातुज विशेषणों का विशेष्य होता था और कर्त्ता में करण की विभक्ति लगाई जाती थी। सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में इस प्रकार का कर्मणि-प्रयोग प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं ने अपनी अपनी मूलभूत अपभ्रंशों से प्राप्त किया है। यह कर्मणि-प्रयोग बहिरंग मानी जानेवाली पश्चिमी और दक्षिणी भाषाओं अर्थात् पश्चिमी पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और मराठी में जिस प्रकार प्रचलित है उसी प्रकार अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी है। हाँ, पूर्वी हिंदी तथा मागधी की सुताओं ने अवश्य इसका पूर्ण रूप से परित्याग कर कर्तरि-प्रयोग ही को अपनाया है। इनमें भी उन्हीं धातुज विशेषणों के रूपों में पुरुषबोधक प्रत्यय लगाकर तीनों पुरुषों के पृथक् पृथक् रूप बना लिए जाते हैं। पश्चिमी पंजाबी और सिंधी में इस प्रकार के प्रत्यय तो लगते हैं, पर उनमें कर्मणि-प्रयोग की पद्धति ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। यह इसलिये प्रतीत होता है कि क्रिया-बोधक धातुज के लिंग और वचन कर्म ही के अनुसार बदलते हैं। इन भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय लगाने का कारण यह जान पड़ता है कि इनमें सप्रत्यय कर्त्ता का प्रयोग नहीं होता, अपितु उसका केवल विकारी अप्रत्यय रूप काम में लाया जाता है। अतः पुरुष बोधन के लिये तादृश प्रत्यय लगा देना सप्रयोजन समझा जाता है। इस विषय में इनकी पड़ोसी ईरानी भाषाओं का भी कुछ न कुछ हाथ है। मिलाइए फारसी कर्दम् (मैंने किया) पश्तो–कुडम्। चाहे जैसे हो, पश्चिमी हिंदी और पश्चिमी पंजाबी आदि में सांसिद्धिक साधर्म्य अवश्य है। अब यदि इन भाषाओं का भेद कर

सकते हैं तो यों कर सकते हैं कि पूर्वी भाषाएँ कर्त्तरिप्रयोग-प्रधान और पश्चिमी कर्मणि-प्रयोग-प्रधान होती हैं।

पश्चिमी भाषाएँ

(कर्मणि-प्रयोग)

पश्चिमी हिंदी—मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती—में पोथी बाँची।
मराठी—मीं पोथी वाचिली।
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ी-मे।
पश्चिमी पंजाबी—(मैं) पोथी पढ़ी-म्।

(यहाँ में, मीं, मूँ, मैं सभी 'मया' से निकले हुए करण विभक्त्यंत रूप हैं। 'मैंने' में करण की दोहरी विभक्ति लगी है)।

पूर्वी भाषाएँ

(कर्त्तरि-प्रयोग)

पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ।
भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं।
मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ।
बँगला—आमि पुथी पुड़िलाम्।
(मुइ पुथी पोड़िली—लुम्)
उड़िया—आम्भे पोथि पोढ़िलुँ (मुँ पोथि पोढ़िली)

विचार करने की बात है कि इस प्रकार भेद रहते हुए बँगला आदि पूर्वी भाषाओं को सिंधी, पश्चिमी पंजाबी आदि के साथ नाथकर सबको बहिरंग मान लेना कहाँ तक ठीक है। एवं अंतरंग और बहिरंग भेद का प्रयोजक आर्यों का भारतवर्ष में अनुमित पूर्वागमन और परागमन भी असंदिग्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध आर्यों का पहले ही से सप्तसिंधु में निवास करना एक प्रकार से प्रमाणित हो चला है। अस्तु; यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है। कोई पक्ष अभी तक सर्वमान्य नहीं हुआ है। इस अवस्था में आधुनिक आर्यभाषाओं के अंतरंग और बहिरंग विभेदों को ही मानकर हम आगे बढ़ते हैं।

अंतरंगत भाषाओं के दो मुख्य विभाग हैं—एक पश्चिमी और दूसरा उत्तरी। पश्चिमी विभाग में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और

पंजाबी ये चार भाषाएँ हैं; और उत्तरी विभाग में पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी ये तीन भाषाएँ हैं। बहिरंग भाषाओं के तीन मुख्य विभाग हैं—उत्तर-पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी। इनमें से उत्तर-पश्चिमी विभाग में कश्मीरी, कोहिस्तानी, पश्चिमी पंजाबी और सिंधी ये चार भाषाएँ हैं। दक्षिणी विभाग में केवल एक मराठी भाषा है; और पूर्वी विभाग में उड़िया, बिहारी, बँगला और आसामी ये चार भाषाएँ हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं के बीच में एक और विभाग है, जो मध्यवर्त्ती कहलाता है और जिसमें पूर्वी हिंदी है। इस मध्यवर्त्ती विभाग में अंतरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं और बहिरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं। यहाँ हम इनमें से केवल पश्चिमी हिंदी, बिहारी और पूर्वी हिंदी के संबंध की कुछ मुख्य मुख्य बातें दे देना चाहते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण

अपने भाषा सर्वे में ग्रियर्सन ने भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करके इन भारतीय आर्यभाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है—(१) अंतरंग, (२) बहिरंग और (३) मध्यवर्त्ती। वह वर्गीकरण वृक्ष द्वारा इस प्रकार दिखाया जाता है—

वर्गीकरण

क. बहिरंग उपशाखा

	१९२१ में बोलनेवालों की संख्या करोड़ लाख
(१) पश्चिमोत्तरी वर्ग	
१—लहँदा	०—५७
२—सिंधी	०—३४
(२) दक्षिणी वर्ग	
३—मराठी	१—८८
(३) पूर्वी वर्ग	
४—आसामी	०—१७
५—बंगाली	४—९३
६—उड़िया	१—०
७—बिहारी	३—४३

	करोड़ लाख
ख. मध्यवर्त्ती उपशाखा	
(४) मध्यवर्त्ती वर्ग	
८—पूर्वी हिंदी	२—२६
ग. अंतरंग उपशाखा	
(५) केन्द्रं वर्ग	
९—पश्चिमी हिंदी	४—१२
१०—पंजाबी	१—६२
११—गुजराती	०—९६
१२—भीली	०—१९
१३—खानदेशी	०—२
१४—राजस्थानी	१—२७
(६) पहाड़ी वर्ग	
१५—पूर्वी पहाड़ी अथवा नैपाली	०—३
१६—केंद्रवर्त्ती पहाड़ी*	...
१७—पश्चिमी पहाड़ी	०—१७

इस प्रकार १७ भाषाओं के ६ वर्ग और ३ उपशाखाएँ मानी जा सकती हैं, पर कुछ लोगों को यह अंतरंग और बहिरंग का भेद ठीक नहीं प्रतीत होता। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने लिखा है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उन्होंने इसके लिये अच्छे प्रमाण भी दिए हैं और भाषाओं का वर्गीकरण नीचे लिखे ढंग से किया है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) वर्ग

१—सिंधी

२—लहदा

३—पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

---

* १९२१ की मनुष्य-गणना में क्रेंद्रवर्त्ती पहाड़ी के बोलनेवाले हिंदी-भाषियों में गिन लिए गए हैं अतः केवल ३८५३ मनुष्य इसको बोलनेवाले माने जाते हैं अर्थात् लाख में उनकी गणना नहीं हो सकती।

४—गुजराती
५—राजस्थानी
(ग) मध्यदेशीय (बिचला) वर्ग
६—पश्चिमी हिंदी
(घ) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग
७—पूर्वी हिंदी
८—बिहारी
९—उड़िया
१०—बँगला
११—आसामी
(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग
१२—मराठी

सूचना—पहाड़ी बोलियों को डा० चैटर्जी ने भी राजस्थानी का रूपांतर माना है पर उनको निश्चित रूप से किसी भी वर्ग में रख सकना सहज नहीं है। उनका एक अलग वर्ग मानना ही ठीक हो सकता है।

इस प्रकार हम ग्रियर्सन और चैटर्जी के नाम से दो पक्षों का उल्लेख कर रहे हैं—एक अंतरंग और बहिरंग के भेद को ठीक माननेवाला और दूसरा उसका विरोधी। पर साधारण विद्यार्थी के लिये चैटर्जी का वर्गीकरण स्वाभाविक और सरल ज्ञात होता है; क्योंकि प्राचीन काल से आज तक मध्यदेश की ही भाषा सर्वप्रधान राष्ट्रभाषा होती आई है, अतः उसे अर्थात् 'पश्चिमी हिंदी' (अथवा केवल 'हिंदी') को केंद्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा-वर्गों की परीक्षा करना सुविधाजनक होता है। इसी से स्वयं ग्रियर्सन ने अपने अन्य लेखों में सर्वप्रथम 'हिंदी' को मध्यदेशीय वर्ग मानकर वर्णन किया है और दूसरे वर्ग में उन भाषाओं को रखा है जो इस मध्यदेशीय भाषा (हिंदी) और बहिरंग भाषाओं के बीच में अर्थात् सीमांत पर पड़ती हैं। इस प्रकार उन्होंने नीचे लिखे तीन भाग किए हैं—

क. मध्यदेशीय भाषा
१—हिंदी (हिं०)
ख. अंतर्वर्ती अथवा मध्यग भाषाएँ

(अ) मध्यदेशीय भाषा से विशेष घनिष्ठतावाली

२—पंजाबी (पं०)

३—राजस्थानी (रा०)

४—गुजराती (गु०)

५—पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा, अथवा नैपाली (पू० प०)

६—केंद्रस्थ पहाड़ी (के० प०)

७—पश्चिमी पहाड़ी (प० प०)

(आ) बहिरंग भाषाओं से अधिक संबद्ध

८—पूर्वी हिंदी (पू० हिं०)

ग. बहिरंग भाषाएँ—

(अ) पश्चिमोत्तर वर्ग

९—लहँदा (ल०)

१०—सिंधी (सिं०)

(आ) दक्षिणी वर्ग

११—मराठी (म०)

(इ) पूर्वी वर्ग

१२—बिहारी (बि०)

१३—उड़िया (उ०)

१४—बंगाली (बं०)

१५—आसामी (आ०)

सूचना—भीली गुजराती में और खानदेशी राजस्थानी में अंतर्भूत हो जाती हैं।

हम ग्रियर्सन के इस अंतिम वर्गीकरण को मानकर ही आधुनिक देशभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भारतवर्ष के सिंधु, सिंध और सिंधी के ही दूसरे रूप हिंदु, हिंद और हिंदी माने जा सकते हैं, पर हमारी भाषा में आज ये भिन्न भिन्न शब्द माने जाते हैं। सिंधु एक नदी को, सिंध एक देश को और सिंधी उस देश के निवासी को कहते हैं, तथा फारसी से आए हुए हिंदु, हिंद और हिंदी सर्वथा भिन्न अर्थ में आते हैं। हिंदू से एक जाति, एक धर्म अथवा उस जाति या

हिंदी

धर्म के माननेवाले व्यक्ति का बोध होता है। हिंद से पूरे देश भारतवर्ष का अर्थ लिया जाता है और हिंदी एक भाषा का वाचक होता है।

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिंदवी या हिंदी शब्द फारसी* भाषा का है और इसका अर्थ 'हिंद का' होता है, अतः यह फारसी ग्रंथों में हिंद देश के वासी और हिंद देश की भाषा दोनों अर्थों में आता था और आज भी आ सकता है। पंजाब का रहनेवाला दिहाती आज भी अपने को भारत-वासी न कहकर हिंदी ही कहता है, पर हमें आज हिंदी के भाषा-संबंधी अर्थ से ही विशेष प्रयोजन है। शब्दार्थ की दृष्टि से इस अर्थ में भी हिंदी शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिये हो सकता है, किंतु व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम मे खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका, शिक्षा-दीक्षा, बोलचाल आदि की भाषा हिंदी है। इस अर्थ में बिहारी (भोजपुरी, मगही और मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती आदि), पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली और छत्तीस-गढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिंदी की विभाषाएँ मानी जा सकती हैं। उसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ११ करोड़ है। यह हिंदी का प्रच-लित अर्थ है। भाषा-शास्त्रीय अर्थ इससे कुछ भिन्न और संकुचित होता है।

हिंदी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ

---

* कुछ लोग स्वयं "हिंदी" शब्द को फारसी बतलाते हैं और कहते हैं कि इसमें हिंद शब्द के अंत में जो "ई" है, वह फारसी की "याए निस्वती" (संबंध-सूचक य या ई) है। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि फिर अवधी, बिहारी और मराठी आदि में जो ई है वह कैसी है ? दूसरे इस अर्थ का बोधक ई प्रत्यय पाली में भी लगता है। जैसे—अप्पमत्तो अयं गंधो यायं तगरचंदनी (धम्मपद ४।५६)। अतः यह कहना कि यह फारसी का प्रत्यय है ठीक नहीं है। यह विषय हमारे प्रस्तुत प्रसंग से कुछ बाहर है, इसलिये इसे हम यहीं छोड़ देते हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यह हमारी भाषा है और इस समय सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो रही है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस विशाल भूमिभाग अथवा हिंदी खंड में तीन चार भाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की राजस्थानी, बिहार तथा बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बिहारी, उत्तर में पहाड़ों की पहाड़ी और अवध तथा छत्तीसगढ़ की पूर्वी हिंदी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार हिंदी केवल उस खंड की भाषा को कह सकते हैं जिसे प्राचीन काल में मध्य देश अथवा अंतर्वेद कहते थे। अतः यदि आगरा को हिंदी का केंद्र मानें तो उत्तर में हिमालय की तराई तक और दक्षिण में नर्मदा की घाटी तक, पूर्व में कानपुर तक और पश्चिम में दिल्ली के भी आगे तक हिंदी का क्षेत्र माना जाता है। इसके पश्चिम में पंजाबी और राजस्थानी बोली जाती हैं और पूर्व में पूर्वी हिंदी। कुछ लोग हिंदी के दो भेद मानते हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। पर आधुनिक विद्वान् पश्चिमी हिंदी* को ही हिंदी कहना शास्त्रीय समझते हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक विवेचन में पूर्वी हिंदी भी 'हिंदी' से पृथक् भाषा मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्धमागधी की। इसी से ग्रियर्सन, चैटर्जी

हिंदी का शास्त्रीय अर्थ

आदि ने हिंदी शब्द का पश्चिमी हिंदी के ही अर्थ में व्यवहार किया है और ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली, बाँगरू और खड़ी बोली (हिंदुस्तानी) को ही हिंदी की विभाषा माना है—अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि को नहीं। अभी हिंदी लेखकों के अतिरिक्त अँगरेजी लेखक भी 'हिंदी' शब्द का मनचाहा अर्थ किया करते हैं इससे भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को हिंदी शब्द के (१) मूल शब्दार्थ, (२) प्रचलित और साहित्यिक अर्थ, तथा (३) शास्त्रीय अर्थ को भली भाँति समझ लेना चाहिए। तीनों अर्थ ठीक हैं पर भाषा विज्ञान में वैज्ञानिक खोज से सिद्ध और शास्त्र-प्रयुक्त अर्थ ही लेना चाहिए।

(१) हिंदी (पश्चिमी हिंदी अथवा केंद्रीय हिंदी-आर्य भाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली†, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी और

* पश्चिमी हिंदी के बोलनेवालों की संख्या केवल ४ करोड़ १२ लाख है।

†.यह एक विचित्र बात है कि जहाँ अन्य भाषाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण उस उस प्रदेश के नाम से अभिहित होती हैं, जैसे अवधी, ब्रज, बुंदेली, वहाँ खड़ी बोली का नाम सबसे भिन्न देख पड़ता है। इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर, जहाँ इसका मुख्यतया प्रचार है या

बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है— साहित्य और व्यवहार सब में उसी का बोलबाला है इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग व्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिये आधुनिक साहित्यिक हिंदी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ५३ लाख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव देख पड़ता है।

खड़ी बोली

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी तीनों का मूलाधार है। खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है पर जब वह साहित्यिक रूप धारण करती है तब कभी वह 'हिंदी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार होता है वह हिंदी (अथवा योरोपीय विद्वानों की उच्च हिंदी) कही जाती है। इसी हिंदी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यही

उच्च हिंदी

उद्भव हुआ है, नहीं है। हिंदी-साहित्य में यह नाम पहले-पहल लल्लूजी लाल और सदल मिश्र के लेखों में मिलता है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब इसे रेखता का नाम दिया। रेखता का अर्थ गिरता या पड़ता है। क्या इसी गिरी या पड़ी हुई भाषा के नाम का विरोध सूचित करने के लिये इसका नाम खड़ी बोली रखा गया? कुछ लोगों का कहना है कि यह 'खड़ी' शब्द 'खरी' (टकसाली) का बिगड़ा रूप है। जो हो, इस नामकरण का कोई प्रामाणिक कारण अब तक नहीं ज्ञात हुआ है। क्या इसका नाम अंतर्वेदी रखना अनुपयुक्त होता? पर अब खड़ी बोली नाम चल पड़ा है और उसे बदलने की चेष्टा व्यर्थ है।

खड़ी बोली का साहित्यिक रूप हिंदी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

जब वही खड़ी बोली फ़ारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी कभी उसकी वाक्य-रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे उर्दू **उर्दू** कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं। एक दिल्ली लखनऊ आदि की तत्सम-बहुला कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू (अथवा हिंदुस्तानी)। इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि में हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यक रूप मात्र हैं। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फ़ारसी का आधार बनाकर विकसित किया जा रहा है।

खड़ी बोली का एक रूप और होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिंदुस्तानी—विशाल हिंदी प्रांत के लोगों की **हिंदुस्तानी** परिमार्जित बोली। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के अतिरिक्त अँगरेजी ने भी हिंदुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि "पुरानी हिंदी, उर्दू और अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आप से आप बन गई है वह हिंदुस्तानी के नाम से मशहूर है।" यह उद्धरण भी हिंदुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोलचाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो, हिंदुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिंदुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं, पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली* ही

* हिंदुस्तानी का साहित्य के आसन पर विराजने की चेष्टा करना हिंदी और उर्दू दोनों के लिये अनिष्टकर सिद्ध हो सकता है। इसके प्रचार और विकास तथा साहित्योपयोगी होने से हिंदी उर्दू दोनों अपने प्राचीन गौरव और परंपरा से पृथक् हो जायँगी और दोनों ग्रहभ्रष्ट होकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करेंगी, जो भारतीय भाषाओं के इतिहास की परंपरा में उथलपुथल कर देगी।

कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की है उसी प्रकार अँगरेजी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये हिंदुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में 'हिंदुस्तानी' नाम के जन्मदाता अँगरेज आफिसर हैं। वे जिस साधारण बोली में साधारण लोगों से—साधारण पढ़े और बेपढ़े दोनों ढंग के लोगों से—बातचीत और व्यवहार करते थे उसे हिंदुस्तानी कहने लगे। जब हिंदी और उर्दू साहित्य-सेवा में विशेष रूप से लग गईं तब जो बोली जनता में बच रही है उसे हिंदुस्तानी कहा जाने लगा है। यदि हम चाहें तो हिंदुस्तानी को चाहे हिंदी का, चाहे उर्दू के बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अतः हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपांतर मात्र हैं। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रांतीय बोली के अर्थ में ही होता है।

(२) बाँगरू—हिंदी की दूसरी विभाषा बाँगरू बोली है। यह बाँगर अर्थात् पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग की बोली है। देहली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद आदि की ग्रामीण बोली यही बाँगरू है। यह पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है। बाँगरू बोलनेवालों की संख्या बाईस लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। पानीपत और कुरुक्षेत्र के प्रसिद्ध मैदान इसी बोली की सीमा के अंदर पड़ते हैं।

(३) ब्रजभाषा—ब्रजमंडल में ब्रजभाषा बोली जाती है। इसका विशुद्ध रूप आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोला जाता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। ब्रजभाषा में हिंदी का इतना बड़ा और सुंदर साहित्य लिखा गया है कि उसे बोली अथवा विभाषा न कहकर भाषा का नाम मिल गया था, पर आज तो वह हिंदी की एक विभाषा मात्र कही जा सकती है। आज भी अनेक कवि पुरानी अमर ब्रजभाषा में काव्य लिखते हैं।

(४) कन्नौजी—गंगा के मध्य दोआब की बोली कन्नौजी है। इसमें भी अच्छा साहित्य मिलता है पर वह भी ब्रजभाषा का ही साहित्य माना जाता है, क्योंकि साहित्यिक कन्नौजी और ब्रज में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता।

(५) बुंदेली—यह बुंदेलखंड की भाषा है और व्रजभाषा के क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। शुद्ध रूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली के बोलनेवाले लगभग ६९ लाख हैं। मध्यकाल में बुंदेलखंड में अच्छे कवि हुए हैं पर उनकी भाषा व्रज ही रही है। उनकी व्रजभाषा पर कभी कभी बुंदेली की अच्छी छाप देख पड़ती है।

'मध्यवर्ती' कहने का यही अभिप्राय है कि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं अतः उनमें दोनों के लक्षण मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर उसके पूर्व की 'पूर्वी हिंदी' में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उसे बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

मध्यवर्ती भाषाएँ

जैसा पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में स्पष्ट हो गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों भाषाएँ हिंदी को—मध्यदेश की भाषा को—घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये सब हिंदी की विभाषाएँ (अथवा उपभाषाएँ) मानी जा सकती हैं पर भाषाशास्त्र की दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें से पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं पर पूर्वी हिंदी में बहिरंग लक्षण ही प्रधान हैं।

पूरे पंजाब प्रांत की भाषा को 'पंजाबी' कह सकते हैं। इसी से कई लेखक पश्चिमी पंजाबी और पूर्वी पंजाबी के दो भेद करते हैं पर भाषाशास्त्री पूर्वी पंजाबी को पंजाबी कहते हैं अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को लहँदा कहते हैं। अमृतसर के आसपास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में डोग्री बोली जाती है। इसकी लिपि तक्करी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी

पंजाबी

है। पंजाबी ही एक ऐसी मध्यदेश से संबद्ध भाषा है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों की भरती नहीं है। इस भाषा में वैदिक-संस्कृत-सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इसके बोलनेवाले बलिष्ठ और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी—आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत-चीनी भाषा के समान स्वर पाए जाते हैं।

राजस्थानी और गुजराती

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिंदी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिंदी का दक्षिण-पश्चिम विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अंतिम भाग गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध हैं कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होगा। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र साहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

पहाड़ी

मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती-जुलती पहाड़ी भाषाएँ हिंदी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है इसी से वह नेपाली भी कही जाती है। इसे ही परबतिया अथवा खसकुरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है। केंद्रवर्ती पहाड़ी गढ़वाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढ़वाल जिलों में बोली जाती है। इसमें दो विभाषाएँ हैं—कुमाउनी और गढ़वाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें, थोड़े दिन हुए, लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। पश्चिमी पहाड़ी बहुत सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम है। उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य ही है। कुछ ग्राम-गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। संयुक्तप्रांत के जौनसार—बावर से लेकर पंजाब प्रांत में सिरमौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुड़्डू, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में कश्मीर की भद्रवार जागीर तक पश्चिमी

पहाड़ी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें जौनसारी, कुड़ूली, चंबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

इसे हिंदी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध-बिहारी* भी कहा जा सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं। यह हिंदी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी को ही कोशली या बैसवाड़ी भी कहते हैं। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी अवधी ही बैसवाड़ी कही जाती है। पूर्वी हिंदी नागरी के अतिरिक्त कैथी में भी कभी कभी लिखी मिलती है। इस भाषा के कवि हिंदी-साहित्य के अमर कवि हैं जैसे तुलसी और जायसी।

पूर्वी हिंदी

इनका सबसे बड़ा भेदक यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिंदी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिंदी की रचना सर्वथा व्यवहित है पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती है। वे व्यवहिति से संहिति की ओर रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में केवल पूर्वी हिंदी कुछ संहित पाई जाती है।

बहिरंग भाषाएँ

यह पश्चिम पंजाब की भाषा है, इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी, डिलाही आदि नामों से भी पुकारी जाती है। कुछ विद्वान् इसे लहँदी भी कहते हैं पर लहँदा तो संज्ञा है अतः उसका स्त्रीलिंग नहीं हो सकता। लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है; अब उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई है।

लहँदा

लहँदा की चार विभाषाएँ हैं—(१) एक केंद्रीय लहँदा जो नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी

---

* अर्धमागधी का ही अनुवाद अर्ध-बिहारी है। पूर्वी हिंदी प्राचीन काल की अर्धमागधी प्राकृत के क्षेत्र में ही बोली भी जाती है। ध्यान देने की बात है कि साहित्यिक और धार्मिक दृष्टि से अर्धमागधी भाषा का सदा से ऊँचा स्थान रहा है पर राष्ट्रीय दृष्टि से मध्यदेश की भाषा ही राज्य करती रही है।

जाती है, (२) दूसरी दक्षिणी अथवा मुल्तानी जो मुल्तान के आस-पास बोली जाती है, (३) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पोठवारी और (४) चौथी उत्तर-पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है।

यह दूसरी बहिरंग भाषा है, और सिंध नदी के दोनों तटों पर बसे हुए सिंध देश की बोली है। इसमें पाँच विभाषाएँ हैं—विचोली, सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी। बिचोली मध्य सिंध की टकसाली भाषा है। सिंधी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिंधी का भी साहित्य छोटा सा है। इसकी भी लिपि लंडा है पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्रायः व्यवहार होता है।

सिंधी

कच्छी बोली के दक्षिण में गुजराती है। यद्यपि उसका क्षेत्र पहले बहिरंग भाषा का क्षेत्र रह चुका है पर गुजराती मध्यवर्ती भाषा है। अतः यहाँ बहिरंग भाषा की शृंखला टूट सी गई है। इसके बाद गुजराती के दक्षिण में मराठी आती है। यही दक्षिणी बहिरंग भाषा है। यह पश्चिमी घाट और अरब समुद्र के मध्य की भाषा है। पूना की भाषा ही टकसाली मानी जाती है। पर मराठी बरार में से होते हुए बस्तर तक बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व में मराठी अपनी पड़ोसिन छत्तीसगढ़ी से मिलती है।

मराठी

मराठी की तीन विभाषाएँ हैं। पूना के आसपास की टकसाली बोली देशी मराठी कहलाती है। यही थोड़े भेद से उत्तर कोंकण में बोली जाती है, इससे इसे कोंकणी भी कहते हैं। पर कोंकणी एक दूसरी मराठी बोली का नाम है जो दक्षिणी कोंकण में बोली जाती है। पारिभाषिक अर्थ में दक्षिण कोंकणी ही कोंकणी मानी जाती है। मराठी की तीसरी विभाषा बरार की वरारी है। हल्बी, मराठी और द्रविड़ की खिचड़ी बोली है जो बस्तर में बोली जाती है।

मराठी भाषा में तद्धितांत, नामधातु आदि शब्दों का व्यवहार विशेष रूप से होता है। इसमें वैदिक स्वर के भी कुछ चिह्न मिलते हैं।

पूर्व की ओर आने पर सबसे पहली बहिरंग भाषा बिहारी मिलती है। बिहारी केवल बिहार में ही नहीं, संयुक्त प्रांत के पूर्वी भाग अर्थात् गोरखपुर-बनारस कमिश्नरियों से लेकर पूरे बिहार प्रांत में तथा छोटा नागपुर में भी बोली जाती है।

बिहारी

यह पूर्वी हिंदी के समान हिंदी की चचेरी बहिन मानी जा सकती है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं (१) मैथिली, जो गंगा के उत्तर दरभंगा के आसपास बोली जाती है। (२) मगही, जिसके केंद्र पटना और गया हैं। (३) भोजपुरी, जो गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों से लेकर बिहार प्रांत के आरा (शाहाबाद), चंपारन और सारन और जिलों में बोली जाती है। यह भोजपुरी अपने वर्ग की ही मैथिली--मगही से इतनी भिन्न होती है कि चैटर्जी भोजपुरी को एक पृथक् वर्ग में ही रखना उचित समझते हैं।

बिहार में तीन लिपियाँ प्रचलित हैं। छपाई नागरी लिपि में होती है। साधारण व्यवहार में कैथी चलती है और कुछ मैथिलों में मैथिली लिपि चलती है।

ओड्री, उत्कली अथवा उड़िया उड़ीसा की भाषा है। इसमें कोई विभाषा नहीं है। इसकी एक खिचड़ी बोली है जिसे भत्री कहते हैं। भत्री में उड़िया, मराठी और द्रविड़ तीनों आकर मिल गई हैं। उड़िया का साहित्य अच्छा बड़ा है।

उड़िया

बंगाल की भाषा बंगाली प्रसिद्ध साहित्य-संपन्न भाषाओं में से एक है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं। हुगली के आसपास की पश्चिमी बोली टकसाली मानी जाती है। बँगला लिपि देव-नागरी का ही एक रूपांतर है।

बंगाली

आसामी बहिरंग समुदाय की अंतिम भाषा है। यह आसाम की भाषा है। वहाँ के लोग उसे असामिया कहते हैं। आसामी में प्राचीन साहित्य भी अच्छा है। आसामी यद्यपि बँगला से बहुत कुछ मिलती है तो भी व्याकरण और उच्चारण में पर्याप्त भेद पाया जाता है। यह भी एक प्रकार की बँगला लिपि में ही लिखी जाती है। आसामी की कोई सच्ची विभाषा नहीं है।

आसामी

तीसरा अध्याय

हिंदी का ऐतिहासिक विकास

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। पर पिछली अपभ्रंश में भी हिंदी के बीज बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, इसी लिये इस मध्यवर्ती नागर अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई भी मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम अर्ध भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु ॥ १ ॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ २ ॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं। हेमचंद्र का जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२९ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि-कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ठ छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि ॥
ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुख्ख करुना जस जप्पत ॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता प्राचीन है और चंद की उसकी अपेक्षा

बहुत अर्वाचीन। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं; पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए ही नहीं हैं। संभव है कि इसमें से कुछ स्वयं उनके बनाए हुए हों; पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उसके पहले के हैं।

विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाक्पतिराज परमार मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहाँ कैद था। कैद ही में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और उसने कारागृह से निकल भागने का अपना भेद अपनी प्रणयिनी को बतला दिया। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और अधिक कड़ाई होने लगी। निम्नलिखित दोहे मुंज की तत्कालीन रचना हैं—

जा मति पच्छइ संपजइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

(जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो, तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।)

सायर खाई लंक गढ़ गढ़वइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ॥

(सागर खाई, लंका गढ़, गढ़पति दशकंधर राजा भाग्य-क्षय होने पर सब चौपट हो गए। मुंज विषाद मत कर।)

ये दोहे हिंदी के कितने पास पहुँचते हुए हैं, यह इन्हें पढ़ते ही पता लग जाता है। इनकी भाषा साहित्यिक है, अतः रूढ़ि के अनुसार इनमें कुछ ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप भी रखे हुए हैं जो बोलचाल में प्रचलित न थे, जैसे संपज्जइ, सायर, मुणालवइ, विसाउ। इन्हें यदि निकाल दें तो भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था; अतएव हिंदी का आदिकाल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई

उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिंदी के आदि काल के कवि मानने में संकोच होता है। पर चंद को हिंदी का आदि-कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का पृथ्वीराज रासो बहुत पीछे का बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। उसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन जान पड़ते हैं।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ है जो बुंदेलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "आल्हखंड" की रचना हुई थी। अभी तक इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलता गया है और भाषा में भी फेरफार होता गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष के राजनीतिक उलटफेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्षवर्धन में उत्साही और दृढ़संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की चिंता लगी हुई थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त हों तथा सेना के अग्रभाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे, इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई सौ वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि काल संवत् १०५० के लगभग आरंभ होकर १३७५ तक चलता है। इस काल में विशेषकर वीर-काव्य रचे गए थे। ये काव्य दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी

बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा, जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान् कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देशव्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी व्रजभाषा का होता था जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे 'पिंगल' भाषा कहने लगे थे। वास्तव में हिंदी का संबंध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। बीसलदेव रासो की भाषा साहित्यिक नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसके कवि ने जगह जगह अपनी राजस्थानी बोली में इस सामान्य साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

डिंगल के ग्रंथों में प्राचीनता की झलक उतनी नहीं है जितनी पिंगल ग्रंथों में पाई जाती है। राजस्थानी कवियों ने अपनी भाषा को प्राचीनता का गौरव देने के लिये जान बूझकर प्राकृत अपभ्रंश के रूपों का अपनी कविता में प्रयोग किया है। इससे वह भाषा वीरकाव्योपयोगी अवश्य हो जाती है, पर साथ ही उसमें दुरूहता भी आ जाती है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य काल आरंभ होता है जो ५२५ वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३७५ से १७०० तक और दूसरा १७०० से १९०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदलकर व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं; और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा अंत में अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है और काव्य-भाषा का एक सामान्य रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डाँवाँडोल हो गई। हिंदी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १९०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिंदी गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ है और खड़ी बोली का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होने लगा है।

मध्य काल के पहले भाग में हिंदी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर व्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण किया और व्रज

तथा अवधी ने साहित्यिक बाना पहनकर प्रौढ़ता प्राप्त की। पुरानी बोलियों ने किस प्रकार नया रूप धारण किया इसका क्रमबद्ध विवरण देना अत्यंत कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि वे एक बार ही साहित्य के लिये स्वीकृत न हुई होंगी। इस अधिकार और गौरव को प्राप्त करने में उनको न जाने कितने वर्षों तक साहित्यिकों की तोड़-मरोड़ सहनी, तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखनी पड़ी होगी। मध्य युग के धार्मिक प्रचार संबंधी आंदोलन ने प्रचारकों को जनता के हृदय तक पहुँचने की आवश्यकता का अनुभव कराया। इसके लिये जन साधारण की भाषा का ज्ञान और उपयोग उन्हें अनिवार्य ज्ञात हुआ। इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर निर्गुणपंथी संत कवियों ने जन-साधारण की भाषा को अपनाया और उसमें कविता की; परंतु वे उस कविता को माधुर्य आदि गुणों से अलंकृत न कर सके और न किसी एक बोली को अपनाकर उसके शुद्ध रूप का उपयोग कर सके। उनके अपढ़ होने, स्थान स्थान के साधु-संतों के सत्संग और भिन्न भिन्न प्रांतों तथा उसके उपखंडों में जिज्ञासा की तृप्ति के लिये पर्यटन एवं प्रवास ने उनकी भाषा में एक विचित्र खिचड़ी पका दी। काशी-निवासी कबीर के प्रभाव से विशेष कर पूरबी भाषा (अवधी) का ही उसमें प्राबल्य रहा, यद्यपि खड़ी बोली और पंजाबी भी अपना प्रभाव डाले बिना न रहीं। इन साधु-संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा को हम सधुक्कड़ी अवधी अथवा साहित्य में प्रयुक्त उसका असंस्कृत अपरिमार्जित रूप कह सकते हैं। आगे चलकर इसी अवधी को प्रेमाख्यानक मुसलमान कवियों ने अपनाया और उसको किंचित् परिमार्जित रूप में प्रयुक्त करने का उद्योग किया। इसमें उनको बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। अंत में स्वाभाविक कोमलता और सगुण भक्ति की रामोपासक शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि तुलसीदास ने उसे प्रौढ़ता प्रदान करके साहित्यिक आसन पर सुशोभित किया। प्रेमाख्यानक कवियों ने नित्य के व्यवहार में आनेवाली भाषा का प्रयोग किया और तुलसीदास ने संस्कृत के योग से उसको परिमार्जित और प्रांजल बनाकर साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया।

व्रजभाषा एक प्रकार से चिर-प्रतिष्ठित प्राचीन काव्य-भाषा का विकसित रूप है। पृथ्वीराज रासो में ही इसके ढाँचे का बहुत कुछ

आभास मिल जाता है—"तिहि रिपुजय पुरहरन को भए प्रथिराज नरिंद।"

सूरदास के रचना-काल का आरंभ संवत् १५७५ के लगभग माना जाता है। उस समय तक काव्य-भाषा ने व्रजभाषा का पूरा पूरा रूप पकड़ लिया था, फिर भी उसमें क्या क्रिया, क्या सर्वनाम और क्या अन्य शब्द सबमें प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। पुरानी काव्य-भाषा का प्रभाव व्रजभाषा में अब तक लक्षित होता है। रत्नाकर जी की कविता में भी अभी तक 'मुक्काहल' और 'नाह' ऐसे न जाने कितने शब्द मिलते हैं। तुलसीदासजी की रचना में जिस प्रकार अवधी ने प्रौढ़ता प्राप्त की उसी प्रकार अष्टछाप के कवियों की पदावली में व्रजभाषा भी विकसित हुई। घनानंद, बिहारी और पद्माकर की कविता में तो उसका पूर्ण परिपाक हुआ।

यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अवधी में मिश्रण के कारण साधु-संत हुए उसी प्रकार व्रजभाषा में मिश्रण के कारण राजा लोग हुए। यह ऊपर कहा जा चुका है कि व्रजभाषा पुरानी सार्वदेशिक काव्य-भाषा का विकसित रूप है। उत्तर भारत की संस्कृत का केंद्र सदा से उसका पश्चिम भाग रहा। बड़ी बड़ी राजधानियाँ तथा समृद्धि-शालिनी नगरियाँ, जहाँ राजा लोग मुक्त-हस्त होकर दान देने के प्रभाव से दूर दूर देश के कवि-कोविदों को खींच लाते थे, वहीं थीं। इसी से वहीं की भाषा ने काव्य-भाषा का रूप प्राप्त किया, साथ ही दूर दूर देशों की प्रतिभा ने भी काव्य-भाषा के एकत्व स्थापित करने में योग दिया। इस प्रकार का कल्पित एकत्व प्रायः विशुद्धता का विरोधी होता है। यही कारण है कि व्रजभाषा भी बहुत काल तक मिश्रित रही। रासो की भाषा भी मिश्रित ही है। चंद ने स्वयं कहा है—"षट् भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।"

इस षट् भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिये भिखारीदास का निम्नलिखित पद्यांश विचारणीय है—

"व्रज मागधी मिलै अमर नाग यमन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥"

मागधी से पूर्वी (अवधी और बिहारी) का तात्पर्य है, अमर से संस्कृत का, और यमन से अरबी का, पर नागभाषा कौन सी है यह

नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो, पर यह मिश्रण ऐसा नहीं होता था कि भाषा अपनापन छोड़ दे।

ब्रज भाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥

प्रत्येक कवि की रचनाओं में इस प्रकार का मिश्रण मिलता है, यहाँ तक कि तुलसीदास और गंग भी, जिनका काव्य-साम्राज्य में बहुत ऊँचा स्थान है, उससे न बच सके। भिखारीदासजी ने इस संबंध में कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
जिनकी कविता में मिलीं भाषा विविध प्रकार॥

अब तक तो किसी चुने उपयुक्त विदेशी शब्द को ही कविगण अपनी कविता में प्रयुक्त करते थे; परंतु इसके अनंतर भाषा पर अधिकार न रहने, भावों के अभाव, तथा भाषा की आत्मा और शक्ति की उपेक्षा करने के कारण अरुचिकर रूप से विदेशी शब्दों का उपयोग होने लगा और भाषा का नैसर्गिक रूप भी परिवर्तन के आवर्त्त में फँस गया। फारसी के मुहाविरे भी ब्रजभाषा में अजीब स्वाँग दिखाने लगे। इसका फल यह हुआ कि ब्रजभाषा में भी एक विशुद्धतावादी आंदोलन का आरंभ हो गया। हिंदी भाषा के मध्यकालीन विकास के दूसरे अंश की विशेषता ब्रजभाषा की विशुद्धता है। भाषा की इस प्रगति के प्रमुख प्रतिनिधि घनानंद हैं। ब्रजभाषा का यह युग अब तक चला आ रहा है, यद्यपि यह अब क्षीणप्राय दशा में है। वर्तमान युग में इस विशुद्धता के प्रतिनिधि पंडित श्रीधर पाठक, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर और पंडित रामचंद्र शुक्ल आदि बताए जा सकते हैं।

किसी समय भी बोलचाल की ब्रजभाषा का क्या रूप था, इसका पता लगाना कठिन है। गद्य के जो थोड़े बहुत नमूने चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता तथा वैद्यक और साहित्य के ग्रंथों की टीका में मिलते हैं वे संस्कृत-गर्भित हैं। उनसे इस कार्य में कोई विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

ब्रज और अवधी के ही समान प्राचीन होने पर भी खड़ी बोली साहित्य के लिये इतना शीघ्र नहीं स्वीकृत हुई, यद्यपि बहुत प्राचीन काल से ही वह समय-समय पर उठ-उठकर अपने अस्तित्व का परिचय

देती रही है। मराठा भक्त-प्रवर नामदेव का जन्म संवत् ११९२ में हुआ था। उनकी कविता में पहले पहल शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं—

"पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ढेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥"

इसके अनंतर हमको खड़ी बोली के अस्तित्व का बराबर पता मिलता है। इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ। ग्रियर्सन साहब 'लालचंद्रिका' की भूमिका में लिखते हैं—

"Such a language did not exist in India before... When, therefore, Lallujilal wrote his Premsagara in Hindi, he was inventing an altogether new language."

अर्थात्—"इस प्रकार की भाषा का इससे पहले भारत में कहीं पता न था...। अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।"

इसी बात को लेकर उक्त महोदय अपनी Linguistic Survey (भाषाओं की जाँच) की रिपोर्ट के पहले भाग में लिखते हैं—

"This Hindi (*i.e.*, Sanskritized or at least non-Persianized form of Hindustani), therefore, or as it is sometimes called 'High Hindi', is the prose literary language of those Hindus who did uot employ Urdu. It is of modern origin, having been introduced under English influence at the commencement of the last century.........Lallulal, under the inspiration of Dr. Gilchrist, changed all this by writing the wellknown Prem-Sagar, a work which was, so far as the prose portion went, practically written in Urdu with Indo-Aryan words substituted wherever a writer in that form of speech would use Persian ones."

अर्थात्—"अत: यह हिंदी (संस्कृत-बहुल हिंदुस्तानी अथवा कम से कम वह हिंदुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी कभी लोग "उच्च हिंदी" कहते हैं, उन हिंदुओं की गद्य साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अँगरेजी प्रभाव के कारण होने लगा है।...लल्लूलाल ने डा० गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेम-सागर लिखकर ये सब परिवर्त्तन किए थे। जहाँ तक गद्य भाग का संबंध है, वहाँ तक यह ग्रंथ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य्य शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखनेवाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

ग्रियर्सन साहब ऐसे भाषातत्त्वविद् की लेखनी से ऐसी बात न निकलनी चाहिए थी। यदि लल्लूजीलाल नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिंदी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगोंपर शासन करें? प्रेमसागर उस समय जिस भाषा में लिखा गया, वह लल्लूजीलाल की जन्मभूमि 'आगरा' की भाषा थी, जो अब भी बहुत कुछ उससे मिलती जुलती बोली जाती है। उनकी शैली में व्रजभाषा के मुहाविरों का जो पुट देख पड़ता है, वह उसकी स्वतंत्रता, प्रचलन और प्रौढ़ता का द्योतक है। यदि केवल अरबी, फारसी-शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द रखकर भाषा गढ़ी गई होती तो यह बात असंभव थी। कल के राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू का जो रंग है, वह प्रेम-सागर की भाषा में नहीं पाया जाता। इसका कारण स्पष्ट है। राजा साहब ने उर्दू भाषा को हिंदी का कलेवर दिया है और लल्लूजीलाल ने पुरानी ही खोल ओढ़ी है। एक लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा में प्रतिबिंबित है तो दूसरे का उसके लोक-व्यवहार-ज्ञान में। दूसरे, लल्लूजीलाल के समकालीन और उनके कुछ पहले के सदल मिश्र, मुंशी सदासुख और सैयद इंशाउल्लाखाँ की रचनाएँ भी तो खड़ी बोली में ही हैं। उसमें ऐसी प्रौढ़ता और ऐसे विन्यास का आभास मिलता है जो नई गढ़ी हुई भाषा में नहीं, किंतु प्रचुर-प्रयुक्त तथा शिष्ट-परिगृहीत भाषाओं में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्त्तमान अमीर खुसरो ने अपनी

कविता में इसी भाषा का प्रयोग किया है। पहले गद्य की सृष्टि होती है, तब पद्य की। यदि यह भाषा उस समय न प्रचलित होती तो अमीर खुसरो ऐसा "घटमान*" कवि इसमें कभी कविता न करता। स्वयं उसकी कविता इसकी साक्षी देती है कि वह चलती रोजमर्रा में लिखी गई है, न कि सोच सोचकर गढ़ी हुई किसी नई बोली में।

कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आस-पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजशासन का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषाके द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्होंने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी। अतएव मध्य काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्त्तमान काल में साहित्य की भाषा में व्रजभाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया। इधर इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

---

* दे० काव्यमीमांसा पृ० १६।

आधुनिक हिंदी गद्य या खड़ी बोली के आचार्य शुद्धता के पक्षपाती थे। वे खड़ी बोली के साथ उर्दू या फारसी का मेल देखना नहीं चाहते थे। इंशाउल्ला तक की यही सम्मति थी। उन्होंने 'हिंदी छुट किसी की पुट' अपनी भाषा में न आने दी; यद्यपि फारसी रचना की छूत से वे अपनी भाषा को न बचा सके। इसी प्रकार आगरा-निवासी लल्लूलाल की भाषा में व्रज का पुट है और सदल मिश्र की भाषा में पूरबी की छाया वर्तमान है, परंतु सदासुखलाल की भाषा इन दोषों से मुक्त है। उनकी भाषा व्यवस्थित, साधु और बे-मेल होती थी। आज-कल की खड़ी बोली से सीधा संबंध इन्हीं की भाषा का है, यद्यपि हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में हम इंशाउल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की उपेक्षा नहीं कर सकते।

आगे चलकर जब मुसलमान खड़ी बोली का 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करने लगे और अँगरेजों के भी शासन संबंधी आवश्यकताओं के अनुसार तथा राजनीतिक चालों की सफलता के उद्देश्य से शुद्ध हिंदी के प्रति उपेक्षा भाव उत्पन्न हो गया तब राजा शिवप्रसाद, समय और स्थिति की प्रगति का अनुभव कर, उसे फारसी मिश्रित बनाने में लग गए और इस प्रकार उन्होंने हिंदी की रक्षा कर ली।

इसी समय भाषा में राष्ट्रीयता की एक लहर उठ पड़ी जिसके प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। अभी कुछ ही दिन पहले मुसलमान भारतवर्ष के शासक थे। इस बात को वे अभी भूले नहीं थे। अतएव उनका इस राष्ट्रीयता के साथ मिलना असंभव सा था। इसलिये राष्ट्रीयता का अर्थ हिंदुत्व की वृद्धि था। लोग सभी बातों के लिये प्राचीन हिंदू संस्कृति की ओर झुकते थे। भाषा की समृद्धि के लिये भी बँगला के अनुकरण पर संस्कृत शब्द लिए जाने लगे, क्योंकि प्राचीन परंपरा का गौरव और संबंध सहज में उच्छिन्न नहीं किया जा सकता। उसको बनाए रखने में भविष्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त, परिमार्जित और सुदृढ़ हो सकता है। यही कारण है कि राजा शिवप्रसाद को अपने उद्योग में सफलता न प्राप्त हुई और भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर हिंदी ऊँचा सिर किए हुए आगे बढ़ रही है। इस समय साहित्यिक हिंदी संस्कृत-गर्भित हो रही है।

परंतु अब राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलमानों के आ मिलने से तथा हिंदुओं के उनका मन रखने की उद्विग्नता के कारण एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है। वही राष्ट्रीयता, जिसके कारण पहले शुद्ध हिंदी का आंदोलन चला था; अब मिश्रण की पक्षपातिनी हो रही है और अपनी गौरवान्वित परंपरा को नष्ट कर राजनीतिक स्वर्गलाभ की आशा तथा आकांक्षा करती है। अब प्रयत्न यह हो रहा है कि हिंदी और उर्दू में लिपिभेद के अतिरिक्त और कोई भेद न रह जाय और ऐसी मिश्रित भाषा का नाम हिंदुस्तानी रखा जाय। हिंदी यदि हिंदुस्तानी बनकर देश में एकच्छत्र राज्य कर सके तो नाम और वेश-भूषा का यह परिवर्तन महँगा न होगा, पर आशंका इस बात की है कि अध्रुव के पीछे पड़कर हम ध्रुव को भी नष्ट न कर दें!

इस एकता के साथ साथ साहित्य और बोलचाल तथा गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का उद्योग वर्तमान युग की विशेषता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; पर साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी बोली ही है।

चौथा अध्याय

हिंदी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

धातु-भेद

पीछे हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक प्राकृत से भिन्न भिन्न प्राकृतों का विकास हुआ और इनके साहित्यिक रूप धारण करने पर अपभ्रंशों का कैसे उदय हुआ; तथा जब ये अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब आधुनिक देश-भाषाओं की कैसे उत्पत्ति हुई। हिंदी के संबंध में विचार करने के समय यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका उदय क्रमश: शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों तथा शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से हुआ है। अतएव जब हम हिंदी के शब्दों की उत्पत्ति तथा उसके व्याकरण के किसी अंग पर विचार करते हैं, तब हमें यह जान लेना आवश्यक होता है कि प्राकृतों या अपभ्रंशों में उन शब्दों के क्या रूप या व्याकरण के उस अंग की क्या व्यवस्था होती है। हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल में शब्दो की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन हुआ है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस बात पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है कि शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से हुई है। यास्क का कहना था कि सब शब्द धातु-मूलक हैं; और धातु वे क्रियावाचक शब्द हैं जिनमें प्रत्यय आदि लगाकर धातुज शब्द बनाए जाते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा गया कि सब शब्द धातु-मूलक नहीं हैं; क्योंकि यदि सब शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मान ली जाय, तो "अश्" धातु से, जिसका अर्थ 'चलना' है, अश्व शब्द बनकर सब चलनेवाले जीवों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। इसका उत्तर यास्क ने यह दिया है कि जब एक क्रिया के कारण एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है, तब वही क्रिया करनेवाले दूसरे पदार्थों का वही नाम नहीं पड़ता। फिर किसी पदार्थ का कोई मुख्य गुण लेकर ही उस पदार्थ का नाम रखा जाता है, उसके सब गुणों का विचार नहीं किया जाता। इसी मत का अनुसरण पाणिनि ने भी किया है

और इस समय सब भाषाओं के संबंध में यही मत माना भी जाता है। संस्कृत में १७०८ धातु हैं जिनके तीन मुख्य विभाग हैं—

(क) प्रथम प्रकार के धातु (१) या तो एक स्वर के बने होते हैं, जैसे 'इ'; (२) या एक स्वर और एक व्यंजन से, जैसे "अद्"; (३) अथवा एक व्यंजन और एक स्वर से, जैसे "दा"। किसी भाषा के इतिहास में इस प्रकार के धातु, जिन्हें हम मूल धातु कह सकते हैं, सबसे प्रधान होते हैं; पर विकासोन्मुख विचारों और भावों को व्यंजित करने में इनकी शक्ति साधरणत: बहुत अस्पष्ट होती है। इसलिये क्रमश: इनका स्थान दूसरे प्रकार के धातु और दूसरे प्रकार के धातुओं का स्थान तीसरे प्रकार के धातु ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के धातु एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन से बने होते हैं; जैसे 'तुद्'। आर्य भाषाओं में इस श्रेणी के धातुओं का अंतिम व्यंजन प्राय: बदलकर अनेक अन्य धातुओं की सृष्टि करता है, जैसे, तुप्, तुभ्, तुज्, तुट्, तुर्, तुह्, तुस्। इन सब धातुओं के अर्थ में मूल भाव एक ही है, पर विचारों और भावों के सूक्ष्म भेद प्रदर्शित करने के लिये इन धातुओं के अंतिम व्यंजन का परिवर्तन करके शब्दों की शक्ति की व्यापकता का उपाय किया गया है।

(ग) तीसरी श्रेणी के धातुओं के चार उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार के बनते हैं—

(१) व्यंजन, व्यंजन और स्वर; जैसे "प्लु"।
(२) स्वर, व्यंजन, और व्यंजन; जैसे "अर्द्र"।
(३) व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन; जैसे "स्पश्"।
(४) व्यंजन, व्यंजन, स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "स्पन्द्"।

इस श्रेणी के धातुओं में यह विशेषता होती है कि दो व्यंजनों में से एक अंतस्थ, अनुनासिक या ऊष्म होता है और उसमें विपर्यय होकर अनेक धातु बन जाते हैं, जो भावों या विचारों के सूक्ष्म भेद व्यंजित करने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार धातुओं से संस्कृत के शब्द-भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर का अनुमान है कि यदि विचार और परिश्रम किया जाय, तो संस्कृत का समस्त शब्द-भाँडार १७०८ से घटकर प्राय: ५०० धातुओं पर अवलंबित हो जाय।

इन्हीं धातुओं से संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार बनता है। संस्कृत शब्दों में से अनेक शब्द हमारी हिंदी में मिल गए हैं। ऐसे शब्दों को

शब्द-भेद

जो सीधे संस्कृत से हमारी भाषा में आए हैं, तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आजकल की भाषा में ऐसे शब्दों का समावेश दिनों दिन बढ़ता जाता है। भाषा की उन्नति के लिये यह एक प्रकार से आवश्यक और अनिवार्य भी है। ये तत्सम शब्द अधिकतर संस्कृत के प्रातिपदिक रूप में लिए जाते हैं, जैसे, देव, फल और कुछ संस्कृत की प्रथमा के एकवचन के रूप में हिंदी में सम्मिलित होकर प्रयुक्त होते हैं और उसके व्याकरण के अनुशासन में आते हैं; जैसे—राजा, पिता, दाता, नदी आदि।

इनके अतिरिक्त हिंदी में ऐसे शब्दों की बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे—साँप, काज, बच्चा आदि। इस प्रकार के शब्दों में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे संस्कृत से प्राकृत में आए हुए तद्भव शब्द हैं अथवा प्राकृतों के ही तत्सम शब्द। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ये शब्द प्राकृत से हिंदी में आए हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें अर्ध-तत्सम कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत शब्द आते हैं जिनका प्राकृत-भाषियों द्वारा युक्त विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) या प्रतिभासमान वर्ण-विकार होते होते भिन्न रूप हो गया है। जैसे, अगिन, बच्छ, अच्छर, किरपा आदि।

इन तीनों प्रकार के शब्दों की भिन्नता समझने के लिये एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है। संस्कृत का "आज्ञा" शब्द हिंदी में ज्यों का त्यों आया है, अतएव यह तत्सम हुआ। इसका अर्धतत्सम रूप आग्याँ हुआ। प्राकृत में इसका रूप "आणा" होता है जिससे हिंदी का 'आन' शब्द निकला है। इसी प्रकार "राजा" शब्द तत्सम है और 'राय' या 'राव' उसका तद्भव रूप है। ये तीनों प्रकार के—अर्थात् तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव—शब्द हिंदी में मिलते हैं; परंतु सब शब्दों के तीनों रूप नहीं मिलते। क्रियापद और सर्वनाम प्रायः तद्भव हैं, परंतु संज्ञा शब्द तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार के मिलते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दों के कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तत्सम	अर्ध-तत्सम	तद्भव
वत्स	वच्छ	बच्चा
स्वामी		साईं
कर्ण		कान
कार्य	कारज	काज
पक्ष		पंख, पाख
वायु		बयार
अक्षर	अच्छर	अक्खर, आखर
रात्रि	रात	
सर्व		सब
दैव	दई	

कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता ही नहीं चलता। संभव है कि भाषा-विज्ञान की अधिक चर्चा होने तथा शब्दों की व्युत्पत्ति की अधिक खोज होने पर इनके मूल आधार का भी पता चल जाय। ऐसे शब्दों को 'देशज' कहते हैं। जैसे; तेंदुआ, खिड़की, (खडक्किका—कादम्बरी टीका ?) घूआ, ठेस इत्यादि। पर इस समय तक तो इन शब्दों का देशज माना जाना अल्पज्ञता का ही सूचक है।

हिंदी भाषा में एक और प्रकार के शब्द पाये जाते हैं जो किसी पदार्थ की वास्तविकता या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें 'अनुकरण' शब्द कहते हैं, जैसे—खटखटाना, चटचटाना, फड़फड़ाना, धमकाना इत्यादि। संसार की सब भाषाओं में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। इसी अनुकरण सिद्धांत पर मनुष्यों की भाषा का विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त हिंदी में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें कहने को तो तत्सम कहते हैं, पर वे तत्सम नहीं हैं। इनमें से कुछ शब्द तो बहुत दिनों से चले आते हैं; जैसे—श्राप, प्रण, क्षत्राणी, सिंचन, अभिलाषा, सृजन, मनोकामना आदि; और अधिक आजकल अल्प-संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चल रहे हैं; जैसे—राष्ट्रीय, जागृत, पौर्वात्य, उन्नायक आदि आदि। इन्हें चाहे तो तत्समाभास कह सकते हैं।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिन्हें न तत्सम कह सकते हैं, न तद्भव और न देशज। जैसे, संस्कृत 'मातृष्वसा' से प्रसिद्ध स्त्रीत्व-व्यंजक

'ई' प्रत्यय लगाकर जो 'मौसी' शब्द बना है वह तो तद्भव है, पर उससे बना पुंलिंग 'मौसा' शब्द न तत्सम है, न तद्भव और न देशज। ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव या तद्भवाभास कहें तो कह सकते हैं। किंतु अब तक विद्वानों ने इन्हें कोई नाम नहीं दिया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो या तो दो भाषाओं के शब्दों के समास से, जैसे—'कौंसिल निर्वाचन', 'सबूट पादप्रहार', 'अमन सभा', 'जगन्नाथ बख्श', 'राम-चीज' आदि आदि; या विजातीय प्रकृति अथवा प्रत्यय के योग से; जैसे—उजड्डुता, रसदार, अकाट्य, गुरुडम, लाटत्व, अजिल्द, सजिल्द आदि बनते हैं। दो भाषाओं से बने होने के कारण यदि इन्हें 'द्विज' कह दिया जाय तो, आशा है, किसी को बुरा न लगेगा।

कभी कभी किसी शब्द का प्रकार, सादृश्य या संबंध बोधन करने के लिये आंशिक आवृत्ति कर दी जाती है, जैसे, लोटा ओटा अर्थात् लोटा और तत्सदृश अन्य वस्तुएँ। इसी प्रकार की प्रकारार्थक द्विरुक्ति आधुनिक आर्यभाषा एवं द्रविड़ भाषाओं में ही देखी जाती है। जैसे – हिंदी—घोड़ा-ओड़ा; बँगला—घोड़ा-टोड़ा; मैथिली—घोड़ा-तोड़ा; गुजराती—घोड़ो-बोड़ो; मराठी—घोड़ा-बोड़ा; सिंहली—अश्वया-बश्वया; तामिल—कुदिरइ-किदिरइ; कनड़ी—कुदिरे-गिदिरे; तेलुगु—गुर्रमु-गिर्रमु। इसी प्रकार, हिंदी—जल-वल या जल-ओल अर्थात् जल-जलपान; बँगला—जोल्-टोल्; मराठी—जस-बिल; तामिल—तण्णीर किण्णीर; कनड़ी—नीरु-गीरु आदि। हिंदी में इस प्रकार के प्रतिध्वनि शब्दों की सृष्टि पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव समझना चाहिए।

तत्सम और तद्भव शब्दों के रूप विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में भी विभेद हो गया है। विशेषता यह देखने में आती है कि तत्सम शब्द कभी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसी का तद्भव रूप विशेष अर्थ देता है; जैसे—गर्भिणी और गाभिन; स्थान और थान। कभी तत्सम शब्द से महत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है और उसी के तद्भव रूप से लघुता का, जैसे—देखना और दर्शन। यह भी देखने में आता है कि कभी कभी एक ही द्व्यर्थक शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं; जैसे—'वंश' शब्द के तत्सम रूप का अर्थ कुटुंब और तद्भव रूप बाँस का अर्थ तृण-विशेष ही लिया जाता है। एक ही शब्द नानार्थक कैसे हो जाता है अथवा एक ही प्रकार के

भाव का द्योतन करने के लिये अनेक पर्यायों की कैसे सृष्टि होती है, या किसी एक पर्याय की अवयवार्थ-बोधकता अन्य पर्याय को, चाहे उसका अवयवार्थ कुछ और ही हो, कैसे प्राप्त हो जाती है, जैसे—भोगी साँप को भी कहते हैं और भोग करनेवाले विलासी को भी। साँप का पर्याय-वाचक भुजंग शब्द वेश्या का उपभोग करनेवाले विलासी के लिये प्रयुक्त होता है, यद्यपि भुजंग का अवयवार्थ है टेढ़ी चाल चलनेवाला। इन अनेक बातों की स्वतंत्र विवेचना होनी चाहिए। पर इस प्रसंग को हम यहाँ नहीं छेड़ना चाहते।

आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं; पर तत्सम शब्दों से क्रियापद नहीं बनते। उनमें 'करना' या 'होना' जोड़कर उनके क्रियापद रूप बनाए जाते हैं; जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' या दर्शन होना'। पुरानी कविता में तत्सम शब्दों से क्रियापद बनाए गए हैं और उनका प्रयोग भी बहुत कुछ हुआ है। आजकल कुछ क्रियापद तत्सम शब्दों से बनकर प्रयोग में आने लगे हैं; जैसे, 'दर्शाना'। ज्यों ज्यों खड़ी बोली में कविता का प्रचार बढ़ेगा, त्यों त्यों इसमें ऐसे क्रिया-पदों की संख्या भी बढ़ेगी। भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ाने और उसके संक्षेप में भाव प्रकट करने में समर्थ होने के लिये ऐसे नामधातुओं की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार हम हिंदी के शब्द-भांडार का विश्लेषण करके इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) संस्कृत या प्राकृत भाषाओं से आगत शब्दों, (२) देशज शब्दों तथा (३) अनुकरण शब्दों के अतिरिक्त (४) तत्समाभास, (५) अर्द्धतद्भव या तद्भवाभास, (६) द्विज और (७) प्रतिध्वनि शब्द भी पाए जाते हैं।

हमारी भाषा पर भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशियों की भाषाओं का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। द्रविड़ भाषाओं के बहुत से

विदेशी प्रभाव

शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं और उनमें से होते हुए हमारी भाषा में आ गए हैं। टवर्गी अक्षरों के विषय में बहुतों का यह कहना है कि इनका आगमन संस्कृत और प्राकृत में तथा उनसे हमारी भाषा में द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्रविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषा में नहीं मिल गए हैं, वरन् उनके

व्याकरण का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिंदी की कुछ विभक्तियाँ भी द्रविड़ भाषाओं की विभक्तियों के अनुरूप बनाई गई हैं; जैसे—कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्तियाँ तो संस्कृत के "कृते" से निकलकर "कहुँ" होती हुई 'की' हो गई हैं। पर द्रविड़ भाषाओं में इन्हीं दोनों कारकों की विभक्ति 'कु' है। विभक्तियों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि हिंदी विभक्ति 'को' की द्राविड़ विभक्ति 'कु' से बहुत कुछ समानता है; पर इससे यह सिद्धांत नहीं निकल सकता कि वह द्रविड़ भाषाओं से हिंदी में आई। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यह सिद्धांत नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि द्रविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई, वही रूप अधिक ग्राह्य समझा गया। मिस्टर केलाग का कहना है कि टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले अधिकांश शब्द द्रविड़ भाषा के हैं और प्राकृतों से हिंदी में आए हैं। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रेमसागर के टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले ८९ शब्दों में से २१ संस्कृत के तत्सम और ६८ प्राकृत के तद्भव हैं; और 'क' से आरंभ होनेवाले १२८ शब्दों में से २१ तद्भव और १०७ तत्सम हैं। इससे वे यह सिद्धांत निकालते हैं कि भारतवर्ष के आदिम द्रविड़ निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है, वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अब कई आधुनिक आर्य-भाषाओं के भी शब्द हिंदी में मिलने लगे हैं; जैसे मराठी के लागू, चालू, बाजू आदि; गुजराती के लोहनी, कुनबी, हड़ताल आदि और बँगला के प्राणपण, चूड़ांत, भद्र लोग, गल्प, नितांत, सुविधा आदि। इसी प्रकार कुछ अनार्य-भाषाओं के शब्द भी मिले हैं, जैसे—तामिल पिल्हई से पिल्ला, शुलुट्टु से चुरुट, तिब्बती—चुंगी; चीनी—चाय; मलय—साबू इत्यादि।

हिंदी के शब्द-भांडार पर मुसलमानों और अँगरेजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों की भाषाएँ फारसी, अरबी और तुर्की मानी जाती हैं। इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मुसलमानों द्वारा अधिक होने के कारण तथा मुसलमानों का उत्तरी भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण ये शब्द हमारी बोलचाल

की भाषा में बहुत अधिकता से मिल गए हैं और इसी कारण साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग चल पड़ा है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश शब्दों का ध्वन्यात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार मुसलमानी शब्दों का भी हिंदी में रूपांतर हुआ है। ये परिवर्तन हम संक्षेप में नीचे देते हैं—

(१) ط और ت हिंदी में त हो जाते हैं; जैसे طلب का तलब और تکرار का तकरार।

(२) ث ص और س हिंदी में स हो जाते हैं; जैसे ثابت का साबित, سائیس का साईस, صاحب का साहिब या साहब। ش का प्रायः श हो जाता है, यद्यपि बोलचाल की भाषा में वह भी प्रायः स ही रहता है।

(३) ذ ز ض और ظ सब हिंदी में ज हो जाते हैं; जैसे ذرہ का जरा, زمین का जमीन, ضامن का जामिन, ظاہر का जाहिर। कहीं कहीं अंतिम ذ द में भी परिवर्तित होता है; जैसे کاغذ का कागद।

(४) ح और ہ हिंदी में ह हो जाते हैं; जैसे حال का हाल, ہار का हार। शब्दों के अंत में आया हुआ ہ जो प्रायः विसर्ग के समान उच्चरित होता है, हिंदी में आ में परिवर्तित हो जाता है; जैसे شبہ का शुभा, پردہ का पर्दा या परदा, مردہ का मुर्दा या मुरदा, پیادہ का प्यादा।

(५) ق خ और غ हिंदी में क्रमशः क, ख और ग हो जाते हैं; जैसे قول का कौल, حق का हक, خاک का खाक, غم का गम, غلام का गुलाम, غریب का गरीब।

(६) ف हिंदी में फ हो जाता है; जैसे فائدہ का फायदा, فکر का फिकर, شریف का शरीफ। इस अक्षर के विदेशी उच्चारण का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक जान पड़ता है। यद्यपि यह प्रायः फ हो जाता है, पर बोलचाल में इसने अपना प्रभाव कुछ कुछ बना रखा है; और कहीं कहीं तो शुद्ध संस्कृत शब्दों के फ का भी लोग धोखे से ف के समान उच्चारण कर बैठते हैं; जैसे 'फूल' को 'फूल' न कहकर 'फ़ूल' और 'फिर' को 'फिर' न कहकर फ़िर कहते हैं। प्रायः गुजरातियों के उच्चारण में यह दोष अधिक पाया जाता है।

(७) ع और , का कभी कभी लोप हो जाता है। जब ع शब्द के बीच में आता है, तब उसका लोप होकर उसके पूर्व का अर्धोच्चरित अ दीर्घ हो जाता है; जैसे معلوم का मालूम, موافق का माफ़िक।

ये सब उदाहरण भाषा के ध्वनि-विकास के भिन्न भिन्न भेदों के अंतर्गत आते हैं। मुसलमानी भाषाओं से आए हुए शब्दों में आगम, विपर्यय और लोप संबंधी भेद भी प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं; जैसे मर्द से मरद, फ़िक्र से फ़िकर, अमानत से अनामत।

इन भाषाओं से आए हुए कुछ शब्दों का यदि यहाँ निर्देश कर दिया जाय तो अनुचित न होगा। सुभीते के लिये इनके विभाग कर दिए जायँ तो और अच्छा हो।

राजकाज, लड़ाई, आखेट आदि के—

अमीर, उमरा, खानदान, खिताब, ख्याल, खास, तख्त, ताज, दरबार, दौलत, नकीब, नवाब, बादशाह, मिर्ज़ा, मालिक, हजूर, हजरत, कूच, कतार, काबू, खंजर, जखम, जंजीर, जमादार, तबक, तंबू, तोप, दुश्मन, नगद, नेजा, फौज, फौत, बहादुर, वजीर, मनसबदार, रसद, रिसाला, शिकार, शमशेर, सरदार, हलका, हिम्मत आदि आदि।

राजकर, शासन, और दंडविधान आदि के—

औलाद, मर्दुमशुमारी, आबाद, इस्तमरारी, वासिल, कब्जा, कसबा, खजाना, खारिज, गुमाश्ता, चाकर, जमा, जमीन, जायदाद, तहवील, ताल्लुक, दारोगा, दफ्तर, नाजिर, प्यादा, फिहरिस्त, बाब, बीमा, महकमा, माफ़, मोहर, रैयत, शहर, सन, सरकार, सजा, हद, हिसाब, हिस्सा, आइना, अदालत, इजहार, इलाका, उज्र, कसूर, काजी, कानून, खिलाफ़, सिरिश्ता, सुलहनामा, जौजे, जबान, जब्त, जारी, जिरह, तकरार, तामील, दरखास्त, दलील, दस्तखत, नाबालिग, नालिश, पेशा, फरियादी, करार, बखरा, बाजाब्ता, मुकदमा, मुंसिफ़, रद, राय, रुजू, शिनाख्त, सफ़ाई, सालिस, हक, हाकिम, हाजत, हुलिया, हिफ़ाजत आदि।

धर्म संबंधी आदि—

वजू, औलिया, अल्ला, इंजील, इबादत; ईमान, इसलाम, ईद, कबर, कफ़न, कलंदर, काफ़िर, काबा, गाजी, जल्लाद, जुम्मा, तोबा, ताजिया, दरगाह, दरवेश, दीन, दुआ, नबी, नमाज, निकाह, नूर, फ़रिश्ता, रोज़ा,

बिस्मिल्ला, बुजुर्ग, मसजिद, मुहर्रम, मुरीद, मोमिन, मुल्ला, शरीयत, शहीद, शिरनी, शिया, हदीस, हलाल आदि।

विद्या, कला, साहित्य संबंधी—

अदब, आलिम, इज्जत, इम्तिहान, इल्म, खत, गजल, तरजुमा, दरद, कसीदा, मजलिस, मुंशी, रेखता, शरम, सितार, हरूफ आदि।

विलासिता, व्यवसाय, शिल्प आदि संबंधी—

अस्तुरा, आइना, अखनी, अंगूर, अचकन, अतर, आतिशबाजी आबनूस, अर्क, इमारत, कागज, कलफ, कुलुफ, कीमखवाब, किशमिश, बर्फी, कोर्मा, कसाई, खरबूजा, खाल, खानसामाँ, खस्ता, गज, गिर्दा, गुलाब, गोश्त, चरखा, चश्मा, चपकन, चाबुक, चिक, जरी, जर्दा, जवाहिरात, जामा, जुलाब, ताफ्ता, तकमा, तराजू, तसवीर तकिया, दालान, दस्ताना, दवा, दूर्बीन, दवात, नारंगी परदा, पाजामा, पुलाव, फर्राश, फानूस, फुहारा, बरफ, बागीचा, बादाम, बुलबुल, मखमल, लबादा, मलहम, मसाला, मलाई, मिश्री, मीना, मेज, रफू, रूमाल, रिकाब, रेशम, लगाम, शहनाई, शाल, शीशी, संदूक, सुर्खी, सुराही, हौदा, हलुवा, हुक्का, हौज आदि।

भिन्न भिन्न देशवासियों के नाम—

अरब, अरमनी, यहूदी, उजबक, तिब्बती, विलायती, हबशी इत्यादि।

साधारण वस्तुओं और भावों के लिये—

अंदर, आवाज, अक्सर, आबहवा, आसमान, असल, इल्लत, कदम, कम, कायदा, कारखाना, कमर, खबर, खुराक, गरज, गरम, गुजरान, चंदा, जलदी, जानवर, जहाज, जिद, तलाश, ताजा, दखल, दम, दरकार, दगा, दाना, दुकान, नगद, नमूना, नरम, निहायत, नशा, पसंद, परी, फुरसत, बदजात, बंदोबस्त, बादहवाई, बेवकूफ, मजबूत, मियाँ, मुर्गा, मुलुक, यार, रकम, रोशनाई, वजन, सादा, साफ, हफ्ता, हजार, हजम होशियार, हजूम आदि।

थोड़े से तुर्की शब्दों का पृथक् दिग्दर्शन कराना भी उपयोगी होगा—

आगा, उजबक (ओज़बेक), उर्दू (ओर्दू = खेमा), कलँगा (क़लग़:), केंची (क़ैंची), काबू (क़ापू = चाल, अवसर, अधीनता, अधिकार, पकड़), कुली (क़ुली = ग़ुलाम) कोतका = ठेंगा (कुतका = दंडा), कोर्मा (क़ावुर्मा), खातुन = महिला (ख़ातून), खान, खाँ (ख़ान,

खाकान), गलीचा (क़लीचा), चकमक (चक़मक़), चाकू (चाक़ू), चिक (फा० चिग, तु० चिक़), तक़मा (तमगा) तुपक, तोप, तगाड़ = सुर्खी चूने का गड्ढा (तगार), तुरुक (तुर्क), दरोगा (दारोग़ा), बक्सी (फा० बख़शी, तु० बक्सी), बावर्ची (वावर्ची), बहादुर, बीबी, बेगम (बेगुम), बकचा = बंडल (बक़चा), मुचलका, लाश, सौगात, सुराक = पता (सुराग़), और 'ची' प्रत्यय जैसे मशालची, ख़ज़ानची इत्यादि। इनके अतिरिक्त पठान (पश्तान) रोहिल्ला (पश्तो 'रोह' = पहाड़) आदि कुछ शब्द पश्तो भाषा के भी मिलते हैं।

युरोपियन भाषाओं के शब्द भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारी भाषा में मिल गए हैं; और वर्तमान समय में तो बहुत अधिकता से मिलते जाते हैं। इन शब्दों में से थोड़े से शब्द तो पुर्तगाली भाषा के हैं, जैसे Camera से कमरा, Martello से मारतौल, Lelloo से नीलाम; कुछ फ्रेंच भाषा के, जैसे Cartouche से कारतूस, Franchis से फरासीसी, Anglais से अँगरेज; कुछ डच भाषा के, जैसे Troef से तुरुप (ताश का खेल), Boom से बम (गाड़ी का); पर अँगरेजी भाषा के शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बहुत अधिक हो गई है और नित्य बढ़ती जा रही है। इनमें से कुछ शब्द तो तत्सम रूप में आए हैं, पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आए हैं। तत्सम रूप में आए हुए शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं—इंच, फुट, अमोनिया, बेंच, बिल, बोर्ड, वोट, बार्डर, बजेट, वटन इत्यादि। तद्भव शब्दों के संबंध में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है; जैसे (१) Sample से सैंपुल, Recruit से रंगरूट, Dozen से दर्जन; (२) General से जरनल, Desk से डेकस; (३) Report से रपट, Pantaloon से पतलून, Magistrate से मजिस्टर, Lantern से लालटेन, Hundredweight से हंडर या हंडरवेट, Town-duty से टून डूटी, Time से टेम, Ticket से टिकट, Quinine से कुनैन, Kettle से केतली। इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्दों के ध्वन्यात्मक विकास में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द के रूप के परिवर्तित होने में नहीं लगता, वरन् दो या अधिक नियम एक साथ लगते हैं। यदि हम प्रत्येक शब्द के संबंध

में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें, तो सब काम चल जाता है। वह नियम यह है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्त्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों को जोड़कर उसके अनुकूल बना लिया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह मुख्य सिद्धांत निकलता है कि हिंदी भाषा में प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के जो शब्द आए हैं, वे या तो तत्सम रूप में आए हैं अथवा तद्भव रूप में। अधिकांश शब्द तद्भव रूप में ही आए हैं, तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। पर साथ ही यह प्रवृत्ति भी देख पड़ती है कि जो लोग प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता हैं, वे उन भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में ही व्यवहृत करने का उद्योग करते हैं। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि ध्वन्यात्मक विकास के सिद्धांतों की भी परवा न करके लोग उन शब्दों को शुद्ध विदेशी या प्राचीन रूप में ही अपनी भाषा में रक्षित रखना चाहते हैं। इससे एक ओर तो नए उच्चारणों के लिये, जो हमारी भाषा में वर्तमान नहीं हैं, नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है और दूसरी ओर हमारी भाषा की पाचन-शक्ति में व्याघात पहुँच रहा है। जिस प्रकार कोई जीवधारी पाचन-शक्ति के मंद पड़ जाने अथवा उसके क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण अपनी शारीरिक क्रियाएँ संपन्न करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी भाषा की पाचन-शक्ति का नाश हो जाता है, अर्थात् जब उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर तथा उन्हें अपने नैसर्गिक रूप में परिवर्तित करके अपना अंग बनाने की शक्ति नहीं रह जाती, तब वह क्रमशः क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है अथवा ऐसा विकृत रूप धारण करने लगती है कि उसके पूर्व-ऐतिहासिक रूप का पता लगना भी कठिन हो जाता है। संस्कृत, फारसी और अँगरेजी के विद्वानों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पांडित्य की कौंध के आगे वे कहीं अपनी मातृभाषा को विवर्ण और छिन्न-भिन्न न कर दें।

यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जहाँ नई जातियों के संसर्ग तथा नए भावों के उदित होने से हमारी भाषा में नए शब्दों का आगम रोकना असंभव है, वहाँ अपने पूर्व रूप को न पहचानने के कारण अपने प्राचीन शब्द-भांडार से सहायता न लेना भी अस्वाभाविक है। आवश्यकता केवल इस बात की है, कि अपना नैसर्गिक रूप न भूला जाय और भाषा को दासत्व की बेड़ी न पहनाई जाय।

हम पहले लिख चुके हैं कि हिंदी में प्राचीन आर्यभाषाओं के शब्द भी तत्सम, अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में आए हैं। जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, अनेक अवस्थाओं में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रयोग में आते हैं। पर ऐसे दोनों रूपों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म विभेद हो गया है; जैसे, मेघ,—मेह, स्थान—थान या थाना, दर्शन—देखना। इनमें से कहीं तो प्रायः ऐसा देखा जाता है कि तद्भव शब्द के अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जाती है और कहीं तत्सम शब्द आदर अथवा महत्ता का सूचक हो जाता है। तत्सम संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द संस्कृत से अधिकतर प्रातिपदिक रूप में और कुछ संस्कृत के प्रथमा एकवचन के रूप में आकर हिंदी व्याकरण के शासनाधीन होते हैं। फल, घृत पशु, सुंदर, कुरूप आदि शब्द प्रातिपदिक रूप में ही लिए हुए हैं। दाता, सरिता, राजा, धनवान्, तेजस्वी आदि प्रथमा एकवचन के रूप में आते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हिंदी के कारक चिह्न स्वतंत्र हो गए हैं और संस्कृत के कारक चिन्हों का प्रयोग हिंदी में लुप्त हो गया है।

प्राचीन भारतीय भाषाओं का प्रभाव

विशेषणों के तारतम्य-सूचक प्रत्यय भी हिंदी में प्रायः लुप्त हो गए हैं, और उनके स्थान पर अप्रत्यय शब्दों से काम लिया जाता है। कहीं कहीं इन प्रत्ययों का जो प्रयोग भी होता है, वह सब तत्सम शब्दों के साथ। जैसे, श्रेष्ठतर, पुण्यतर, मंदतम।

हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा सर्वनामों में बहुत विकार हो गया है। अब वे सर्वथा तद्भव हो गए हैं। तत्सम नामधातुज क्रियाओं के रूप कविता में तो मिलते हैं, पर गद्य में नहीं मिलते। इधर किसी किसी का प्रयोग गद्य में होने लगा है; पर अधिकांश क्रियाएँ तद्भव ही हैं; और जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तत्सम

संज्ञावाचक शब्द के साथ करना, होना, लेना आदि तद्भव क्रियाएँ लगा दी जाती हैं।

हिंदी में तद्भव शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ये संस्कृत से प्राकृत या अपभ्रंश द्वारा विकृत होकर हिंदी में आए हैं। इनके विकृत होने में आगम, लोप, विपर्यय तथा विकार के नियम लगते हैं। ये विकार शब्द के आदि, मध्य या अंत में होते हैं। सबसे अधिक परि-वर्त्तन शब्दों के मध्य में होता है; इसके अनंतर आरंभ के परिवर्त्तनों की संख्या है; और अंत में तो बहुत कम परिवर्त्तन होते हैं। इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है; अतः हम यहाँ केवल यही बतला देना चाहते हैं कि प्रधानतः प्रयत्नलाघव, स्वरसाम्य और गुण-साम्य आदि के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

पाचवाँ अध्याय

साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ

हमने ऊपर हिंदी के विकास के भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न बोलियों के नाम दिए हैं। इनमें मुख्य राजस्थानी, अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली* हैं। बुँदेलखंडी स्थूल दृष्टि से व्रजभाषा के अंतर्गत आती है। अब हम इन पर अलग विचार करेंगे।

हिंदी की उपभाषाएँ या बोलियाँ

(१) राजस्थानी भाषा—यह भाषा राजस्थान में बोली जाती है। इसके पूर्व में व्रजभाषा और बुँदेली, दक्षिण में बुँदेली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में सिंधी और पश्चिमी पंजाबी तथा उत्तर में पश्चिमी पंजाबी और बाँगरू भाषाओं का प्रचार है। इनमें से मराठी, सिंधी और पश्चिमी पंजाबी बहिरंग शाखा की भाषाएँ हैं और शेष सब अंतरंग शाखा की भाषाएँ हैं।

जहाँ इस समय पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का, जो अंतरंग भाषाएँ हैं, प्रचार है, वहाँ पूर्व काल में बहिरंग भाषाओं का प्रचार था। क्रमशः अंतरंग समुदाय की भाषाएँ इन स्थानों में फैल गईं और बहिरंग समुदाय की भाषाओं को अपने स्थान से च्युत करके उन्होंने उन स्थानों में अपना अधिकार जमा लिया। आधुनिक राजस्थानी में बहिरंग भाषाओं के कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं; जैसे आ, ए, ऐ और ओ के उच्चारण साधारण न होकर उससे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार छ का उच्चारण स से मिलता जुलता और शुद्ध स का ह के समान होता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषाओं की संज्ञा का विकारी रूप बहिरंग भाषाओं के समान आकारांत होता है और संबंध कारक का चिह्न बँगला के समान र होता है।

---

* साहित्यिक हिंदी और भाषा-शास्त्रीय हिंदी में जो अंतर है उसका उल्लेख पृष्ठ २८-२९ पर हो चुका है।

बहिरंग भाषाओं को उनके स्थान से हटाकर अंतरंग भाषाओं के प्रचलित होने के प्रमाण कई ऐतिहासिक घटनाओं से भी मिलते हैं। महाभारत के समय में पंचाल देश का विस्तार चंबल नदी से हरद्वार तक था; अतएव उसका दक्षिणी भाग राजपूताने का उत्तरी भाग था। पाश्चात्य पंडित तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पांचाल लोग उन आर्यों में से थे जो पहले भारतवर्ष में आए थे; इसलिए उनकी प्राचीन भाषा बहिरंग समुदाय की थी। जब अंतरंग समुदाय की भाषा बोलनेवाले आर्य, जो पीछे भारतवर्ष में आए, अधिक शक्तिसंपन्न होकर चारों ओर फैलने लगे, तब उन्होंने बहिरंग भाषाओं के स्थान में बसे हुए आर्यों को दक्षिण की ओर खदेड़ना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार अंतरंगवासी आर्य बहिरंग आर्यों को चीरते हुए गुजरात की ओर चले गए और समुद्र के किनारे तक बस गए। महाभारत के समय में द्वारका का उपनिवेश स्थापित हुआ था और उसके पीछे कई बार आर्य लोग मध्य देश से जाकर वहाँ बसे थे। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि ये लोग राजपूताने के मार्ग से गए होंगे क्योंकि सीधे मार्ग से जाने में मरु देश पड़ता था जहाँ का मार्ग बहुत कठिन था। पीछे की शताब्दियों में आर्य लोग मध्य देश से जाकर राजपूताने में बसे थे। बारहवीं शताब्दी में राठौरों का कन्नौज छोड़कर मारवाड़ में बसना इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जयपुर के कछवाहे अवध से और सोलंकी पूर्वी पंजाब से राजपूताने में गए थे। यादव लोग मथुरा से जाकर गुजरात में बसे थे। इन बातों से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि मध्य देश से जाकर आर्य लोग गंगा के दोआबे से लेकर गुजरात में समुद्र के किनारे तक बस गए थे और वहाँ के बसे हुए पूर्ववर्ती आर्यों को उन्होंने खदेड़कर हटा दिया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा बोलनेवाले मध्य देश के परवर्ती आर्य थे; और ऐसी दशा में उनकी भाषा में बहिरंग भाषाओं का कुछ कुछ प्रभाव बाकी रह जाना स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी। इनके अनेक भेद उपभेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। जो लोग व्रजभाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी; और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। जयपुरी

में भी साहित्य है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणी इसी भाषा में है। मेवाती और मालवी में किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। इन भिन्न भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती ब्रजभाषा से और मालवी बुँदेलखंडी से बहुत मिलती जुलती है। संज्ञा शब्दों के एकवचन रूप प्राय: समान ही हैं, पर बहुवचनों में अंतर पड़ जाता है; जैसे, एकवचन घर, घोड़ा, घड़ी; पर बहुवचन में इनके रूप क्रमश: घऱ्याँ, घोड़ाँ, घड्याँ हो जाते हैं। जयपुरी और मारवाड़ी की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं–

कारक	जयपुरी	मारवाड़ी
संबंध	को, का, की	रो, रा, री
संप्रदान	नै, कै	नै
अपादान	सूँ, सैं	सूँ, ऊँ

ब्रजभाषा में अपादान की विभक्ति सों, तें और बुँदेलखंडी की सों, सें होती है जो जयपुरी और मारवाड़ी दोनों से मिलती है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में तो संबंध कारक की विभक्ति परस्पर मिलती है, पर मारवाड़ी की भिन्न है।

व्यक्तिवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है। ब्रजभाषा और बुँदेलखंडी में एकवचन का मूल रूप मो, मुज, मे या तो, तुज, ते है; पर राजस्थानी में मुँ; त, तू है, जो गुजराती से मिलता है। बहुवचन में हम, तुम की जगह म्हाँ, थाँ हो गया है। राजस्थानी में एकवचन के पहले व्यंजन को हकारमय करने की भी प्रवृत्ति है; जैसे म्हा। सारांश यह कि व्यक्तिवाचक सर्वनामों में कहीं गुजराती से और कहीं ब्रजभाषा या बुँदेलखंडी से साम्य है और कहीं उसके सर्वथा स्वतंत्र रूप हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है।

राजस्थानी भाषाओं की क्रियाओं में एक बड़ी विशेषता है। उनमें कर्मणि-प्रयोग बराबर मिलता है जो पश्चिमी हिंदी में बहुत ही कम होता है। इन भाषाओं की क्रियाओं में धातु रूप वे ही हैं जो दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलते हैं; केवल उनके उच्चारण में कहीं कहीं भेद है। राजस्थानी क्रियाओं में विशेषता इतनी ही है कि वर्तमान काल में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय आँ होता है, पर प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय विशेषण के सामान आ होता है। जैसे—

वचन	जयपुरी	मारवाड़ी
वर्तमान काल—		
एकवचन		
उ० पु०	छूँ	हूँ
म० पु०	छइ	हइ
अ० पु०	छइ	हइ
बहुवचन		
उ० पु०	छाँ	हाँ
म० पु०	छो	हो
अ० पु०	छइ	हइ
भूत काल—		
एकवचन पुं०	छो	हो
बहुवचन पुं०	छा	हा

राजस्थानी में क्रियाओं के रूप प्राय: पश्चिमी हिंदी के समान होते हैं। भविष्यत् काल में राजस्थानी के रूप दो प्रकार के होते हैं—(१) एक तो प्राकृत के अनुरूप; जैसे, प्रा० चलिस्सामि, चलिहामि, चलस्यूँ, चलह्यूँ; और दूसरा "गा" या "ला" प्रत्यय लगाकर; जैसे चलूँलो, चलाँला, चलूँला, चलूँगो, चलाँगा।

राजस्थानी भाषा वाक्य-विन्यास के संबंध में गुजराती का अनुकरण करती है। पश्चिमी हिंदी में बोलने का अर्थ देनेवाली क्रियाओं के संबंध में जिससे बोला जाय, उसका रूप अपादान कारक में होता है, जैसे—'राम गोविंद से कहता है'। पर गुजराती में इसका रूप संप्रदान कारक का सा होता है; जैसे "राम गोविंद ने कहे छे।" पश्चिमी हिंदी में जब कोई सकर्मक क्रिया सामान्य भूतकाल में प्रयुक्त होती है, और कर्म सप्रत्यय रखा जाता है, तब उसका रूप पुल्लिंग का सा होता है, पर गुजराती में कर्म के अनुसार लिंग होता है; जैसे (प० हिं०) 'उसने स्त्री को मारा'; (गु०) 'तेणे स्त्री ने मारी'। राजस्थानी में दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि राजस्थानी भाषा पर गुजराती का बहुत प्रभाव पड़ा है। संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिंदी से नहीं। राजस्थानी की विभक्तियाँ अलग ही हैं। जहाँ कहीं समानता है, वहाँ गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिंदी से कम।

(२) अवधी—इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों में है। इसकी प्रचार-सीमा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में पश्चिमी हिंदी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी भाषा बोली जाती है।

अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है। बघेलखंड में बोली जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा है और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है। हिंदी-साहित्य में अवधी भाषा ने एक प्रधान स्थान ग्रहण किया है। इसके मुख्य दो कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। मलिक मुहम्मद ने

अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५९७ में और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने रामचरित मानस का आरंभ संवत् १६३१ में किया था। दोनों में ३०-३५ वर्ष का अंतर है। पर पद्मावत की भाषा अपने शुद्ध रूप में, जैसी वह बोली जाती थी, वैसी ही है; और गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप देने का सफलता-पूर्ण उद्योग किया है। अवधी के भी दो रूप मिलते हैं—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है; अतएव व्रजभाषा की सीमा के निकट पहुँच जाने के कारण उसका इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है और यह उससे अधिक मिलती है। पूर्वी अवधी गोंडे और अयोध्या के पास बोली जाती है। यहाँ की भाषा शुद्ध अवधी है। इस विभेद को स्पष्ट करने के लिये हम दोनों के तीन सर्वनामों के रूप यहाँ देते हैं।

वर्त्तमान हिंदी	पूर्वी अवधी		पश्चिमी अवधी	
	अविकारी	विकारी	अविकारी	विकारी
कौन	के	के	को	का
जो	जे	जे	जो	जा
वह	से, ते	ते	सो	ता

क्रियापदों में भी इसी प्रकार का भेद मिलता है। पश्चिमी अवधी में व्रजभाषा के समान साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है; जैसे आवन, जान, करन। पर पूर्वी अवधी में उसके अंत में ब प्रत्यय आता है; जैसे—आउब, जाब, करब। इन साधारण क्रियापदों में कारक चिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर पश्चिमी अवधी का नांत रूप बना रहता है; जैसे—आवन काँ, करन माँ, आवन लाग; पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का वर्त्तमान तिङन्त (साध्यावस्थापन्न) रूप हो जाता है, जैसे—आवै काँ, जाय माँ, आवै लाग, सुनै चाहौ। करण के चिह्न के पहले पूर्वी और

पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में भूत कृदंत का रूप हो जाता है; जैसे—आए से, चले से, आए सन् दिए सन्। पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप व्रजभाषा के समान 'है' होता है; जैसे - करिहै, सुनिहै, पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है; जैसे होइहि। आइहि,। क्रमशः इस 'हि' में के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया जो पूर्व इ से मिलकर 'ई' हो गया; जैसे आई, जाई, करी, खाई। अवधी साहित्य में दोनों रूप एक ही ग्रंथ में एक साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में भोजपुरी से अवधी बहुत मिलती है। इसके विकारी रूप का प्रत्यय ए होता है। अवधी की विभक्तियाँ भी वही हैं जो भोजपुरी की हैं; केवल कर्म कारक और संप्रदान कारक का चिह्न अवधी में 'काँ' और बिहारी में 'के' तथा अधिकरण कारक का चिह्न अवधी में 'माँ' और बिहारी में 'में' है। ये 'काँ' और 'माँ' विभक्तियाँ अवधी की विशेषता की सूचक हैं। सर्वनामों के कारक रूपों में भी बिहारी से अवधी मिलती है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के संबंध कारक एकवचन का रूप पश्चिमी हिंदी में मेरो या मेरा है, पर बिहारी में यह मोर हो जाता है। अवधी में भी बिहारी के समान 'मोर' ही रूप होता है। क्रियापदों में अवधी शौरसेनी की ओर अधिक झुकती है। उदाहरण के लिये अवधी का 'मारा' शब्द ले लीजिए। संस्कृत में यह मारितः था शौरसेनी में 'मारिदो' हुआ जिससे व्रजभाषा में मार्‍यो बना। इस उदाहरण में पहले त का द हुआ और तब इस द का लोप हो गया। पूर्वी समुदाय की भाषाओं में इस द के स्थान में ल हो जाता है; जैसे मारल। इससे प्रतीत होता है कि अवधी ने शौरसेनी से सहायता लेकर अपना रूप स्थिर किया है।

यहाँ हम संक्षेप में अवधी के व्याकरण की कुछ बातें देकर इस भाषा का विवरण समाप्त करते हैं।

संज्ञा—शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं; जैसे घोड़, घोड़वा और घोड़ौना; नारी, नरिया और नरीवा। इसके कारकों के रूप इस प्रकार होते हैं—

कारक	अकारांत पुं०	आकारांत पुं०	ईकारांत स्त्री०
एकवचन			
कर्त्ता	घर	घोड़वा	नारी
विकारी	घरा, घरे	घोड़वा	नारी
बहुवचन			
कर्ता	घर	घोड़वे, घोड़वने	नारी
विकारी	घरन	घोड़वन	नारिन

संज्ञाओं के साथ जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—ऐ (आकारांत शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ)।

कर्म—के, काँ, कहँ।

करण— सें, सन्, सौं।

संप्रदान—के, का कह।

अपादान—से, तें, सेंती, हुँत।

संबंध—कर (क), केर, कै (स्त्री०)।

अधिकरण—में, माँ, महँ, पर।

विशेषण—विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे—आपन-आपनि, ऐस-ऐसि, ओकर-ओकरि प्राय: बोल-चाल में इसका ध्यान नहीं रखा जाता, पर साहित्य में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है।

सर्वनाम—भिन्न भिन्न सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

सर्वनाम	एकवचन			बहुवचन		
	कर्त्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं	तो	तोर	तुम, तूँ	तुम, तुम्हरे	तुम्हार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप (स्व)	आप	आप	आपकर	आप	आप	आपकर
आप (पर)	आप	आपु	आपन	आप	आप	आपन
यह	ई	ए, एह, एहि	एकर, एहिकर	इन, ए	इन	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह, ओहि	ओकर, ओहिकर	उन, ओन	ओन, उन	ओनकर, ओनकेर
जो	जो, जे जौन	जे, जेहि	जेकर, जेहिकेर,	जे	जिन	जिनकर, जिनकेर
सो	सो, से, तौंन	ते, तेहि	तेकर, तेहिकेर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कौन	को, के, कौन	के, केहि	केकर, केकरे	को, के	किन	किनकर, किनकेर

क्रियाएँ—इनके रूप भिन्न कालों, वचनों, पुरुषों तथा लिंगों में इस प्रकार होते हैं—

(१) अकर्मक क्रियाएँ

वर्त्तमान काल "मैं हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हौं, बाट्यों, अहौं	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन, अहिन
म० पु०	हए, बाटे, बाटिस अहिस, अहै, अहसि	हइस, बाटिस अहिस	हौ, बाट्यौ, अहौ अहेव, अह्यौ, अह, अहे	हइउ, बाटिउ अहिव
अ० पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटें, अहैं, हैं बाटैं	बाटी, अहैं, बाटिन

भूत काल "मैं था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	रह्यों	रहिउँ	रहे	रहे, रहिन, (रहेन)
म० पु०	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो	रहिउ
अ० पु०	रही	रही	रहेन, रहिन, रहैं	रहा, रहिन

(२) सकर्मक-मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा	देखब
वर्तमान कृदंत (कर्तरि)	देखत, देखित
भूत कृदंत (कर्मणि)	देखा
भविष्य कृदंत (कर्मणि)	देखब
संभाव्यार्थ कृदंत	देखत, देखित
वर्तमान संभाव्यार्थ	(यदि) मैं देखौं

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखौं	देखी
म० पु०	देखु, देखिस	देखौ
अ० पु०	देखैं	देखैं

अज्ञात के एकवचन का रूप देखु, देखसि और बहुवचन का देखउ, देखौं, देखैं (आप) होता है।

भविष्य

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखबूँ, देखबौं, देखिहौं	देखब, देखिहैं
म० पु०	देखबे, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अ० पु०	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूत

पुरुष	एकवचन		स्त्री०	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	बहुवचन
उ० पु०	देख्यों	देखिउँ	देखा, देखिन	देखा, देखिन
म० पु०	देखे, देखिस देखेसि	देखिस, देखे देखिसि, देखी	देखेन देख्यो	देखेन देखेउ, देखी
अ० पु०	देखेस, देखिस देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखन, देखिन	देखी, देखिनि

भूत संकेतार्थ

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देखत्यौं	देखतिउँ	देखित	देखित
म० पु०	देखते, देखतिस	देखते, देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
अ० पु०	देखत	देखति	देखतेन, देखतिन	देखतिन

वर्तमान सामान्य—देखत अहेउँ ।

भूत अपूर्ण—देखत रह्यों ।

वर्त्तमान पूर्ण

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यों हौं	देखिउँ हौं	देखा है, देखेन है, देखिन है	देखा है, देखे है, देखेन हैं
म० पु०	देखेस है, देखिस है, देखे है	देखिस है, देखिसि है, देखे हैं	देख्यो है	देखिउ हैं
अ० पु०	देखेस है, देखिस है	देखि है, देखिसि है	देखेन हैं, देखिन हैं	देखिन है, देखा है

अकर्मक क्रियाओं में भूत काल 'रह्यों' के समान होता है।

विकारी क्रियाओं में 'जाव' का भूत कृदंत ग, गा, गय (स्त्री० गइ), गवा (स्त्री० गई) होता है। इसी प्रकार 'होब' का भ, भा, भय (स्त्री० भइ), भवा (स्त्री० भई) और करब, देव, लेब आदि का कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह आदि होता है। भूतकाल में इनका रूप किहिस, दिहिस, लिहिस होता है। जिन क्रियाओं के धातु-रूप का अंतिम अक्षर स्वर होता है, उनमें व प्रत्यय लगता है, य नहीं लगता; जैसे, बनावा। 'जाव' का 'गय' और 'आउब' का 'आय' होता है। जिन क्रियाओं के अंत में आ होता है, उनका भूतकाल न प्रत्यय लगाकर बनता है; जैसे डेरान, रिसियान।

(२) ब्रजभाषा—यह अंतरंग समुदाय की सबसे मुख्य भाषा है। यह शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। इसका मुख्य स्थान ब्रजमंडल है; पर इसका प्रचार दक्षिण की ओर आगरा, भरतपुर, धौलपुर और करौली में तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में है। उत्तर की ओर यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर-पूर्व की ओर इसका प्रचार बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊँ, बरेली होते हुए नैनीताल के तराई-परगनों

तक चला गया है। इसका केंद्रस्थान मथुरा है, और वहीं की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इस केंद्र-स्थान से जिधर जिधर यह फैली है, उधर उधर की भाषाओं से संसर्ग होने के कारण इसके रूप में कुछ न कुछ विकार हो गया है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत तथा कहीं कहीं वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, चल्यो, कियो आदि। संस्कृत के घोटक शब्द का प्राकृत रूप घोडओ होता है, जिससे ब्रजभाषा का घोड़ो रूप बना है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्त्तमान कृदंतों के अंतिम त का प्राकृत में अ + उ हो जाता है; जैसे—चलितः से चलिअउ; और ब्रजभाषा में यह चल्यो हो गया है। यद्यपि यह ब्रजभाषा का एक प्रधान लक्षण है, पर इसके भी अपवाद हैं। जिस प्रकार संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग होता है, उसी प्रकार ब्रजभाषा में रा आदि होता है; जैसे - हियरा, जियरा, बदरा, चवैया, कन्हैया। खड़ी बोली में यह ड़ा और अवधी में वा, ना आदि होता है; जैसे, मुखड़ा, बछड़ा, करेजवा, बिधना इत्यादि। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न इनके विकारी रूपों में आ का ए होता है। ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक-चिह्न अवधी और खड़ी बोली से भिन्न हैं। यह भिन्नता नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जायगी।

कारक	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
कर्ता	(विकारी) ने	×	(विकारी) ने
कर्म	को, कौ	के, का, कहँ	को।
करण	सों, तें	से, सन, सैं	से
संप्रदान	को, कौ	के, का, कहँ	को
अपादान	तें, सों	सं	से
संबंध	को	कर, कै, केर	का, के, की
अधिकरण	में, मों, पै, पर	में, माँ, पर	में, पर

इससे यह स्पष्ट है कि अवधी में भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग सर्वथा नहीं होता, पर ब्रजभाषा और खड़ी बोली में यह अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म, संप्रदान तथा अधिकरण के रूप खड़ी बोली के रूपों से मिलते हैं, पर अवधी से नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह, वह, सो, को (कौन) और जो सर्वनामों के रूप कारक-चिह्नों के लगने के पूर्व ब्रजभाषा में या, वा, ता, का और जा हो जाते हैं, जैसे—याने, वाको, तासों, काकों, जाकों। पर अवधी में इनके रूप यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि होकर तब उनमें कारक-चिह्न लगते हैं। नीचे ब्रजभाषा के व्याकरण की मुख्य मुख्य बातें दे दी जाती हैं जिनसे इस भाषा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

संज्ञा

कारक	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
	आकारांत	अकारांत	ईकारांत
एकवचन	घोड़ा	घर	घोड़ी
कर्त्ता	घोड़ो, घोड़े ने	घर	घोड़ी, घोड़ी ने
विकारी	घोड़े	घर	घोड़ी
बहुवचन	घोड़े	घर	घोड़ियाँ
कर्त्ता	घोड़े, घोड़न ने	घर	घोड़ियाँ, घोड़ियन ने, घोड़ियान ने
विकारी	घोड़न, घोड़ान	घरन	घोड़ियन, घोड़ियान

विभक्ति

कर्त्ता—ने
कर्म, संप्रदान—को
करण, अपादान—सों, तें
अधिकरण—में, मों, पै
संबंध—को

सर्वनाम—एकवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अपा०	अधि०
मैं	मैं, हौं	मैंने	मोहिं (मोय) मोकौं	मेरो	मोसों, मोते	मोमैं, मोपै
तू	तू, तैं	तूने, तैंने	तोहि (तोय) तोकौं	तेरो, तिहारो, तुम्हारो	तोसों, तोतें तोहितें	तोहिमै, तोमैं तोपै, तोहिपै
वह	वह, वो	वाने, ताने	वाहि (वाय) ताहि (ताय) ताकौं	वाको, ताको, तासु	वासों, तासों, वातें, तातें	वामैं, तामैं, वापै, तापै
यह	यह	याने	याहि (याय) याकौं	याको	यासों, यातें	यामैं, यापै
जो	जो, जौन*	जाने	जाहि (जाय) जाकौं	जाको, जासु	जासों, जातें	जामैं, जापै
सो	सो, तौन*	ताने	ताहि (ताय) ताकौं	ताको, तासु	तासों, तातें	तामैं, तापै
कौन	को	काने	काहि (काय) काकौं	काको	कासों, कातें	कामैं, कापै
क्या	कहा, का	×	×	×	×	×

* ब्रज में केवल "सो" के पहले यह रूप आता है; जैसे, जौन सो लेनो होय, ले।

सर्वनाम—बहुवचन

सर्वनाम	कर्ता	विकारी	कर्म संप्र०	संबंध	करण अपा०	अधि०
मैं	हम	हमने	हमहिं, हमैं, हमकौं	हमारो, म्हारो	हमसैं, हमतैं	हममैं, हमपै
तू	तुम	तुमने	तुमहिं, तुम्हें, तुमकौं	तुम्हारो, तिहारो	तुमसैं, तुमतैं	तुममैं, तुमपै
वह	वे, वै, ते	उनने, विनने, तिनने	उनहिं, उन्हें, तिनहिं, तिन्हैं	उनकौ, तिनकौ, विनकौ	उनसैं, उनतैं, विनसैं, विनतैं, तिनसैं, तिनतैं	उनमैं, उनपै तिनमैं, तिनपै विनमैं, विनपै
यह	ये	इनने	इनहिं, इन्हैं, इनकौं	इनकौ	इनसैं, इनतैं	इनमैं, इनपै
जो	जो, जे	जिनने	जिनहिं, जिन्हैं जिनकौं	जिनकौ	जिनसैं; जिनतैं	जिनमैं, जिनपैं
सो	ते	तिनने	तिनहिं, तिन्हैं, तिनकौं	तिनकौ	तिनसैं, तिनतैं	तिनमैं, तिनपै
कौन	को, के	किनने	किनहिं, किन्हैं, किनकौं	किनकौ	किनसैं, किनतैं	किनमैं, किनपै

(१) क्रियाएँ

वर्त्तमान काल—करना (सकर्मक) "मैं करता हूँ"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	करत हौं, करूँ हूँ	करति हौं, करूँ हूँ	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं
म० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करौ हौ	करति हौ, करौ हौ
अ० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं

भूत काल* "मैं करता था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	कियौ, कीन्हौं, करयौ	कियौ, कीन्हौं, करयौ	कियौ, कीन्हौं, करयौ	कियौ, कीन्हौं, करयौ
म० पु०	" " "	" " "	" " "	" " "
अ० पु०	" " "	" " "	" " "	" " "

* कर्त्ता के लिंग या वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

(२) मुख्य सकर्मक—क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा—करनो, करिबो, कीबो।
वर्तमान कृदंत कर्तरि—करतो, करती।
भूत कृदंत कर्त्तरि और कर्मणि—कियो, कीन्हों, करयो, कियो, गयो।

वर्तमान संभाव्यार्थ "मैं देखूँ"

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	(मैं) देखूँ	(हम) देखैं
म० पु०	(तू) देखै	(तुम) देखो
अ० पु०	(वह) देखै	(वे) देखैं

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप 'देख' और बहुवचन का रूप 'देखौ' होता है।

भविष्य "देखना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	देखूँगो, देखिहौं	देखूँगी, देखिहै	देखेंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं
म० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैंगी, देखिहैं	देखौगे, देखिहौ	देखौगी, देखिहौ
अ० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं

भूत काल संकेतार्थ "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	करतो	करती	करते	करतीं

वर्तमान पूर्ण* "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है	कियो है, कीन्हों है

भूत काल "जाना" (अकर्मक) गया

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	गयो	गई	गए	गईं

* कर्त्ता के लिंग, वचन के अनुसार रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

वर्तमान पूर्ण "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	गयो हौं	गई हौं	गए हैं	गई हैं
म० पु०	गयो है	गई है	गए हौ	गई हौ
अ० पु०	गयो है	गई है	गए हैं	गई हैं

(४) **बुँदेली भाषा**—ब्रज से मिलती जुलती या उसी की एक शाखा बुँदेली या बुँदेलखंडी भी है, जिसकी छाया कवियों की भाषा में बराबर मिलती है। यह भाषा बुँदेलखंड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बोली जाती है। इसकी विस्तार-सीमा के पूर्व ओर की पूर्वी हिंदी की बघेली बोली, उत्तर-पश्चिम की ओर ब्रजभाषा, दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थानी और दक्षिण की ओर मराठी भाषा का साम्राज्य है। उत्तर, पूर्व और पश्चिम की ओर तो यह क्रमशः उन दिशाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में लीन हो जाती है और वहाँ इसका मिश्र रूप देख पड़ता है; पर दक्षिण की ओर यह मराठी से बहुत कम मिलती है। यद्यपि इसकी कई बोलियाँ बताई जाती हैं, पर वास्तव में सर्वत्र इसका एक सा ही रूप है। इधर-उधर जो अंतर देख पड़ता है वह नाम मात्र का है।

साहित्य में बुँदेली का सबसे अच्छा नमूना आल्हखंड में मिलता है। पर इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति न मिलने तथा इसका अस्तित्व आल्हा गानेवालों की स्मरणशक्ति पर ही निर्भर रहने के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों में इसने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इसमें बहुत कुछ क्षेपक अंश भी मिल गया है. इससे इसका वास्तविक प्राचीन रूप अब

प्राप्त नहीं है। कवि केशवदास बुँदेलखंड के रहनेवाले थे, अतएव उनकी भाषा में बुँदेली का बहुत कुछ अंश वर्त्तमान है। नीचे इस भाषा की व्याकरण-संबंधी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके इसके रूप का परिचय दिया जाता है।

पूर्वी भाषाओं में जहाँ लघु उच्चारणवाला ए और ओ होता है, वहाँ बुँदेलखंडी में इ और उ होता है; जैसे, घोड़िया, घुड़िया। कहीं कहीं ऐसे रूप भी मिलते हैं, जैसे, बिलैया, चिरैया आदि। हिंदी की विभाषाओं में संज्ञाओं के पाँच रूप होते हैं—अकारांत, आकारांत, वाकारांत और "औवा" तथा "औना" से अंत होनेवाले; जैसे, घोड़, घोड़ा, घोड़वा घोड़ौवा, घोड़ौना। पर सब भाषाओं में ये सब रूप नहीं मिलते। हिंदी के आकारांत पुल्लिंग शब्द बुँदेली में ब्रजभाषा के समान ओकारांत हो जाते हैं; पर संबंधसूचक शब्दों में यह विकार नहीं होता; जैसे दादा, काका। हिंदी में जो स्त्रीलिंग शब्द 'इन' प्रत्यत लगाने से बनते हैं, वे बुँदेली में 'नी' प्रत्यय लेते हैं; जैसे तेली – तेलिन; बुँ० तेलनी। बुँदेली के कारक हिंदी के ही समान होते हैं। आकारांत तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप एकवचन में ए और बहुवचन में अन होता है; जैसे, एकवचन, घोड़ा, विकारी—घोड़े; बहुवचन, घोड़े, विकारी—घोड़न। दूसरे प्रकार की पुल्लिंग संज्ञाएँ एकवचन में नहीं बदलतीं; परंतु कर्त्ता के तथा विकारी रूप के बहुवचन में इनके अंत में "अन" आता है। कभी कभी कुछ अकारांत शब्दों का बहुवचन आँ से भी बनता है। "इया" से अंत होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन "इयाँ" और विकारी बहुवचन "इयन" लगाने से बनता है। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्त्ता बहुवचन एँ प्रत्यय लगाने से बनता है। ईकारांत शब्दों के बहुवचन में "ईं" और विकारी बहुवचन में "अन" या "इन" प्रत्यय लगता है। बुँदेलखंडी में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता-विकारी	ने, नें
कर्म, सम्प्रदान	कों, खों
करण, अपादान	से, सें, सों
संबंध	को, के, की
अधिकरण	मैं, में

बुँदेली में सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

एकवचन	मैं	तू
कर्त्ता	में, मैं	तूँ, तैं
विकारी	मैंने	तैंने
संबंध	मोको, मेरो,	तोको, तेरो,
	मोरो, मोने	तोरो, तोने

बहुवचन		
कर्त्ता	हम	तुम
संबंध	हमको, हमारो	तुमकोँ, तुमारो,
	हमाओ	तुमाओ
विकारी	हम	तुम

अन्य पुरुष सर्वनाम का रूप बो या ऊँ होता है। इनका बहुवचन बे और विकारी बहुवचन बिन या उन होता है।

क्रियाओं के संबंध में नीचे कुछ रूप दिए जाते हैं।

अकर्मक वर्तमान

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हों, आँवँ, आंव	हैं, आयँ
म० पु०	है, आँयँ	हो, आव
अ० पु०	है, आँयँ	हैं, आयँ

अकर्मक भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
म० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
अ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत्काल में दोनों रूप होते हैं—हुहाँ, हौंगो; मारिहों, मारूँगो; मारिहैं, मारेंगे।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि बुंदेलखंडी व्रजभाषा की ओर बहुत झुकती है और इसी लिये वह पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत मानी गई है।

(५) खड़ी बोली—इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी "हिंदवी"। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल-चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक

आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध' 'अशुद्ध' बोलनेवालों से 'सही' 'गलत' बोलवाने के लिये अकबर को कृष्णदास मिश्र द्वारा "शुद्धौ सहीह इत्युक्तो ह्यशुद्धौ गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध, अशुद्ध न निकलकर सही, गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से 'एक ग्लास पानी' न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख-उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने "ओज़बेक" का उजबक, 'क़ुतका' का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे; एवं ये लोग बरेहमन् सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुँदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी, बाबू-इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिंदी कहलाती थी; पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस प्रकार 'संस्कृतवाक्' के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी, अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए; एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही के अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदुस्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिन्दुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदुस्तानी—जिसमें

साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

प्रसंगवश हम हिंदी शब्द के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य भाषा' शब्द प्रयुक्त करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिंधु से निकाला हुआ बड़ा पुराना शब्द। ईसा मसीह से बहुत पहले फारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फ़ारसी धर्म पुस्तक में जो 'अकनूँ बिरहमने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बस दाना के आक़िल चुनान॰त' और 'चूँ व्यास हिंदी बलख़ आमद' लिखा है वही 'हिंदी' शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है। एक मुसलमान लेखक ने 'नूरनामा' नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिंदी' बतलाया है जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। देखिए—

जुबाने अरब में य' था सब कलाम।
किया नज़्म हिंदी में मैंने तमाम॥
अगर्चे था अफ़सः वो अरबी ज़ुबाँ।
व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ॥
समझ उसकी हर इक को दुश्वार थी।
कि हिंदी ज़ुबाँ वाँ तो दरकार थी॥
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर।
लिखा नूरनामे को हिंदी के तौर॥

अरबी, फ़ारसी मिश्रित खड़ी बोली के लिये 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत ही आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिंदी न कहकर 'उर्दू हिंदी' कह देते थे।

इन तीनों रूपों पर अलग अलग विचार करने के पहले लगे हाथ हम यह भी लिख देना चाहते हैं कि खड़ी बोली की उत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे प्रायः भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का क्या, सं० १९८५ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति तक का कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली ब्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इनसे एक

नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह व्रजभाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसी के से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारांत रूप पाए जाते जो शौरसेनी प्राकृत से व्रजभाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारांत घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारांत रूप अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं। हेमचंद्र ने "स्यादौ दीर्घह्रस्वौ" सूत्र से इनकी सिद्धि बतलाकर कई विभक्तियों में आकारांत रूपों के उदाहरण दिए हैं। जैसे—

ढोला सामला धण चंपावण्णी
ढोल्ला मइं तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु॥
[दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,
दूल्हा, मैं तोहि वरज्यौ मत कर दीरघ मान।
नींदै गँवैहो रतिया चटपट होइ बिहान॥]

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचंद्र ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पंजाबी में आकारांत रूप मिलने के कारण यह संभावना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारांत रूपों पर फारसी के ه (हे) से अंत होनेवाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। दूसरे खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रजभाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि व्रजभाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्व काल में खड़ी बोली केवल बोल-चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्होंने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि खड़ी बोली का सबसे पुराना नमूना जो अब तक मिला है वह नामदेव की कविता में है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यह अंश क्षेपक और जाली है पर इस कथन को यदि हम वितंडावाद के नाम से पुकारें तो अनुचित न होगा। अस्तु, नामदेव को छोड़ भी दिया जाय तो हमें खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर

खुसरो मिलता है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नाम: में, जिसमें मुख्यत: सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ और देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुई। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिकबारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थी। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि-कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी अरबी में परस्पर अदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई है। विक्रम की १४वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन? ना सखि कुत्ता॥

स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागे प्यारी॥
जो मानुष इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

रहीम खानखाना ने भी खड़ी बोली में कविता की है। उनका मदनाष्टक खड़ी बोली का बड़ा मधुर उदाहरण है—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

हिंदू कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।
(२) खुदा की कसम खाई है।
(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबड़ाता है।
मानुष गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क, रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

सीतल कवि (१७८०) ने खड़ी बोली में बड़ी ही सुंदर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अंग अंग में व्याप रही है। देखिए—

हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर बिधि ने यह फरफंद किया।
चंपकदल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ॥

ऐसे में ग्रहन समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी अँग उछलै नट का बटा हुआ॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार कम से कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। सच बात तो यह है कि खड़ी बोली को काव्यभाषा का स्थान कभी नहीं मिला था। यह उसकी अपनी सजीवता थी कि वह समय समय पर स्वयं अपना सिर उठा देती थी। हरिश्चंद्र ने भी उसमें बहुत कविता नहीं की है। काव्य की परंपरा के लिये ढली चली आती हुई ब्रजभाषा के सामने उसका काव्य के लिये स्वीकृत होना बहुत कम संभव था, क्योंकि खड़ी बोली में मधुरता का अभाव था। पर रहीम ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि संस्कृत वृत्तों का अनुसरण करने से खड़ी बोली की कविता में मिठास लाई जा सकती है। यही बात पीछे चलकर फारसी के वृत्तों के संबंध में हरिऔधजी की रचनाओं से प्रमाणित हुई। वर्तमान युग में मराठी के संसर्ग से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फिर से इसी बात का अनुभव प्राप्त किया और उनके दिखाए हुए मार्ग पर चलकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा कई और कवियों ने अच्छी सफलता प्राप्त की। पर इसका एक बुरा परिणाम यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि खड़ी बोली की कविता एक प्रकार से संस्कृतमयी हो गई है। केवल कोई संयोजक शब्द, कोई विभक्ति या कोई क्रिया जो यहाँ वहाँ मिल जाती है, इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर देती है कि यह कविता संस्कृत की नहीं हिंदी की है। उदाहरण के लिये पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह पंक्ति—

"मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि"

अथवा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का यह पद्य देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेंदुबिंबानना
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी—
श्रीराधा मृदुहासिनी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी॥

आनंद की बात है कि अब धीरे धीरे खड़ी बोली की कविता की भाषा सरल गद्य की-सी हो रही है जो समय की प्रवृत्ति के अनुकूल तथा भाषा

कविता के भविष्य का द्योतक है। अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष रूप से हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उनकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिंदू अपने अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी हैं। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।"

यद्यपि गुलेरीजी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर हुआ तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ' सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए, परंतु उनका यह कहना कि "उर्दू-रचना में फारसी, अरबी

तत्सम या तद्भव निकालकर संस्कृत तत्सम या तद्भव रखकर हिंदी बना ली गई" ठीक नहीं है। उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडा के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले भी मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी ब्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निःसंकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्यभाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाकर और खड़ी बोली को अरब तथा फारस की वेषभूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिंदी की 'विभाषा' है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्यभाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।" हिंदू कवियों ने जो मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली बुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा में मूलतः भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अतः उन्होंने उसके लिये उनके द्वारा अपनाई गई खड़ी बोली का प्रयोग किया; और विशेष आत्मीयता बोधन करने के लिये हिंदू पात्रों की भाषा ब्रज या अपने प्रदेश की रखी।

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसंगात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—"इतना सुनके पातशाहजी श्री अकबरशाहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना हो गया, रास बचना पूरन भया।" गंग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्यलेख न मिलने के

कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए।* लल्लूजी-लाल हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद "सुखसागर" वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिए राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाए, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर इंशाउल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढँग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित गोरा बादल की कथा भी इस समय की रचना जान पड़ती है। सारांश यह है कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट, की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से

* जटमल की लिखी गोरा बादल की कथा भी हिंदी गद्य का पुराना नमूना मानी जाती थी, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि वह जटमल की लिखी नहीं है और इसका रचनाकाल १८०० ई० के लगभग है।

हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्धपान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति-संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूलरूप को भूलकर अपने पृष्ठ-पोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। इसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी, पर वास्तव में यह अपनी जन्मदात्री को भूलकर तथा अरबी फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं, अपितु तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा होता है; और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफ़त करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे—सितारेहिंद, दफ़्तरे-फ़ौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—अज़ख़ुद, अज़ तरफ़। अधिकरण कारक की विभक्ति 'में' के स्थान में भी 'दर' का प्रयोग होता है; जैसे—दर असल, दर हक़ीक़त। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे—फ़िलहाल, फ़िलहक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट-फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख देते हैं; जैसे—"राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरणार्थ उर्दू के एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिससे ये चारों बातें स्पष्टतया समझ में आ जायँगी।

"क़सब: निगोहा के जानिबे दखिन एक मंदर महादेवजी का है, जिसको भौंरेसर कहते हैं, और किनारे दरियाए सई के वाक़अ़ है। और वहाँ पर हर दुशंब: को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नाग़ा: जाया करते हैं, और जो मक़्सदे दिली रखते हैं, वह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक्त़ औरंगज़ेब बादशाह भी उस मंदर पर तशरीफ़ लाए थे और उनकी मंशा थी कि इस मंदर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें। और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने ग़ुस्से में आकर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरुअ़ किया, और दो एक ज़र्बें मूरत में लगाईं, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़तरे ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुदरत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदुस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर

इस भाषा को यह रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यत् वाणी करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा व्रजभाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे वढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदुस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, किंतु अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी? भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया. तब तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया; और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

व्रजभाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का तारतम्य

हम यह देख चुके हैं कि हिंदी की तीन प्रधान उपभाषाएँ हैं, अर्थात् अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली। राजस्थानी और बुँदेलखंडी व्रजभाषा के तथा उर्दू खड़ी बोली के निकटतम हैं। इन तीनों उपभाषाओं के तारतम्य का कुछ विवेचन नीचे दिया जाता है।

व्याकरण—खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में व्रजभाषा में भी 'ने' चिह्न होता है, चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण=जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से। इसी के अनुसार सकर्मक भूतकाल क्रिया के लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होते हैं। पर अन्य पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के

सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं. वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया के लिंग वचन बदलते हैं। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारक चिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे 'घोड़ा' और 'सखी' का ब्रजभाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा, केवल कारक चिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन' हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर ज़बाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे "मूली कैसे दोगी ?" वह बोली—"एक मूली का क्या दाम बताऊँ ?" उन्होंने कहा—"एक ही नहीं, और लूँगा।" कुँजड़िन बोली—"तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङंत ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है; पर ब्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है, जैसे आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान ब्रजभाषा की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक के सर्वनाम ब्रज में ओकारांत होते हैं; जैसे घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—आवनो, आयबो, करनो, देनो, दैबो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि। पर अवधी का लघ्वंत पदों की ओर कुछ झुकाव है, जिससे लिंग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर, गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच इत्यादि विशेषण, आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार सर्वनाम और केर, कन, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ, कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण

हैं। अवधी में साधारण क्रिया के रूप भी लघ्वंत ही होते हैं; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं, पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं, जैसे—ठाढ़, बैठ, आय, गय। उ०—बैठ हैं=बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी।—जायसी।

(ख) पाट बैठि रह किए सिंगारू।—जायसी।

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अंगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा।—तुलसी।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि।—तुलसी।

उच्चारण—दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष ब्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है, वहाँ ब्रज में संधि हो जाती है। जैसे अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिं नारि पियारि जिमि।—तुलसी), नियाव इत्यादि ब्रजभाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण ब्रज को प्रिय नहीं है; जैसे—पूरबी दुआर, कुवाँर। ब्रज—द्वार, क्वाँरा। इ और उ के स्थान पर य और व की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ [(१) इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। (२) उहाँ दशानन सचिव हँकारे।—तुलसी] के ब्रज रूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है। जैसे—अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै) आदि न कहकर ब्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै, जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै=ऐहै, जयहै=जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और ब्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व'कार के पहले रह गया, जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश

नहीं। जैसे, गैया, कन्हैया, भैया, कौवा, हौवा इत्यादि में। 'और', 'ऐसा', 'भैंस' आदि का उच्चारण पश्चिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', 'भइँस' से मिलता जुलता होगा।

ब्रज के उच्चारण के ढँग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता-जुलता करते हैं। माहिं, नाहिं, याहि, वाहि, जाहि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है, इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ', 'याय', 'वाय', 'जाय' के ऐसा होता है। 'आवैंगे' 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है, पर लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्त्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही हैं। इसी से उनमें लिंगभेद रहता है। जैसे आता है = आता हुआ है = सं० आयान् (आयांत), उपजता है = उपजता हुआ है = प्राकृत उपजंत = सं० उत्पद्यन् (उत्पद्यंत), करता है = करता हुआ है = प्रा० करंत = सं० कुर्वन् (कुर्वंत), आती है = आती हुई है = प्रा० आयंती = सं० आयांती, उपजती है = उपजती हुई है = प्रा० उपजंती = सं०* उत्पद्यंती, करती है = करती हुई है = प्रा० करंती = सं०* कुर्वंती। इसी प्रकार वह गया = स गतः, उसने किया = तेन कृतम् इत्यादि हैं। पर ब्रजभाषा और अवधी में वर्तमान और भविष्यत् के तिङंत रूप भी हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं है। ब्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोलचाल की भाषा में तिङंत प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुषबोधन के लिये 'है' 'हूँ' और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—सं० चलति = प्रा० चलइ = ब्रज० चलै, सं० उत्पद्यते = प्रा० उपज्जइ = ब्रज० उपजै, सं० पठंति = प्रा० पढंति, अप० पढ़इँ = ब्रज० पढ़ैं, उत्तम पुरुष सं० पठामः = प्रा० पठामो, अप० पढ़उँ = ब्रज० पढ़ौं या पढ़ूँ। अब ब्रज में ये क्रियाएँ 'होना' के रूप लगाकर बोली जाती हैं। जैसे—चलै है, उपजै है, पढ़ैं हैं, पढ़ौं हौं या पढ़ूँ हूँ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा। वर्तमान के तिङंत रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं, पर कविता में बराबर आए हैं; जैसे—(क) पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै सुनै

बिनु काना। भविष्यत् के तिङंत रूप अवधी और ब्रज दोनों में एक ही हैं; जैसे—करिहै, चलिहै, होयहै = अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ = प्रा० करिस्सइ, चलिस्सइ, होइस्सइ = सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति। अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही है, पर ब्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय = करिहै, होयहय = होयहै इत्यादि रूप हो जायँगे। 'य' के पूर्व के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं; जैसे, अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै; करयहै = करैहै इत्यादि। उत्तम पुरुष खयहौं = खैहौं, अयहौं = ऐहौं, जयहौं = जैहौं।

ब्रजभाषा में बहुवचन के कारक-चिह्न-ग्राही-रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है। जैसे—घोड़ान को, घोड़न को, छोरान को, छोरन को इत्यादि। अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं। उ० देखहु बनरन केरि ढिठाई।—तुलसी।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। आगे चलकर हम इसका विचार विशेष रूप से करेंगे। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंध कारक के सर्वनाम में मिलता है। जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० पुं० किस्स + कारक चिह्न 'का'। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे—'कहिकाँ' (पुराना रूप—केहि कहँ), 'केहि कर', यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और ब्रजभाषा में हैं। जैसे पुराने रूप 'रामहिं', 'बनहिं', 'घरहिं', नए रूप 'रामै' 'बनै' 'घरै' (अर्थात् राम को, वन को, घर को); अवधी या पूरबी —"घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, ब्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। ब्रजभाषा की कविता में 'रामहिं' 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिं' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते हैं, वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों जाहि, वाहि, तिन्हैं, जिन्हैं में यह 'ह' रह गया है। चलती भाषा में 'रामै' 'बनै' 'आवैं' 'जायँ' 'करैं' 'करौं' ही बहुत दिनों से, जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से, हैं। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैं', 'चलावैं' के स्थान पर 'आवहिं' 'चलावहिं' तो क्या 'आवहीं' 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफाई जाती रही। शब्दों का अंग भंग करने का 'कविंदों' ने ठेका सा ले लिया। समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की भाषा तो ठिकाने की होती थी, पर शेष चरण इस बात को भूलकर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते हैं। पर भाषा के जीते-जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों ने ऐसे सड़े-गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया; किया भी है तो बहुत कम 'आवहिं', 'जाहिं', 'करहिं', 'कहहुँ' न लिखकर उन्होंने बराबर 'आवैं', 'जायँ', 'करैं', 'कहौं' लिखा है। इसी प्रकार 'इमि', 'जिमि', 'तिमि' के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के 'यों', 'ज्यों', 'त्यों' लाए हैं। ब्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनाम के कर्म में 'ह' कुछ रह गया है; जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्हैं, तिन्हैं। पर 'जाहि' 'वाहि' के उच्चारण में 'ह' घिसता जा रहा है, लोग 'जाय' 'वाय' के समान उच्चारण करते हैं।

हिंदी की तीनों बोलियों (खड़ी, ब्रज और अवधी) में व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारक चिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं। ब्रजभाषा में अवधी का सा विकार होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी	अवधी	ब्रज
मैं—तू—वह	मैं—तैं—वह, सो, ऊ	मैं—तू या तैं—वह—सो
मुझ—तुझ—उस	मो—तो—वा, ता, ओ	मो—तो वा, ता

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। ब्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप 'ने' लगने पर 'मैं' ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। ब्रज में एकवचन उत्तम पुरुष 'हौं' भी आता है जिसमें कोई कारक-चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्ता कारक में होता है; पर केशव ने कर्म में भी किया है। यथा—पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

जाना, होना के भूतकाल के रूप (गवा, भवा) में से व उड़ाकर जैसा अवधी में गा, भा रूप होते हैं, वैसे ही ब्रज में भी य उड़ाकर गो, भो (ब० गे, भे) रूप होते हैं। उ०—(क) इत पारि गो को मैया मेरी सेज़ पै कन्हैया को ?—पद्माकर। (ख) सौतिन के साल भो, निहाल नंदलाल भो।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न 'से' क्रिया के साधारण रूप में लगाती है; ब्रज और अवधी प्राय: भूतकालिक कृदंत में ही लगाती हैं; जैसे—ब्रज० 'किए तें' अवधी 'किएसन'=करने से। कारक-चिह्न प्राय: उड़ा भी दियां जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है; जैसे—किए, दीने।

क्रिया का वर्तमान कृदंत रूप ब्रजभाषा खड़ी बोली के समान गुर्वंत भी रखती है; जैसे—आवतो, जातो, भावतो, सुहातो। (उ०—जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—सूर।) और अवधी के समान लघ्वंत भी; जैसे आवत, जात, भावत, सुहात। कविता में सुभीते के लिये लघ्वंत का ही ग्रहण अधिक है। जिन्हें ब्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अंत होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होता है; पर ब्रजभाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अंत होनेवाला; जैसे—आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से अंत होनेवाला; जैसे—आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अंत होनेवाला; जैसे—आयबो, करिबो, दैबो, या लैबो इत्यादि। करना, देना और लेना, के 'कीबो', 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं। ब्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते, पिछले दो रूपों में ही लगते हैं। जैसे—आवन को, जान को, दैबे को इत्यादि। शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर

साधारण क्रिया का रूप वर्तमान तिङंत का हो जाता है; जैसे—आइव के, जाइ के, आवइ में, जाइ में अथवा आवइ काँ, जाइ काँ, आवइ माँ, जाइ माँ। उ०—जात पवनसुत देवन देखा। जानइ चह बल बुद्धि बिसेखा।—तुलसी।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अंत में ब रहता है; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। इस ब की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं; जैसे—पुनि आउब यहि बेरियाँ काली। तुलसी। उत्तम पुरुष (हम करब, मैं करबौं) और मध्यम पुरुष (तू करबौ, तैं करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है; पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है। यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा।—तुलसी। (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू। कौन उतरु पाउब पैसारू।-जायसी। पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया। मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में ब में ई मिलाकर ब्रज के दक्षिण से लेकर बुंदेलखंड तक बोलते हैं; जैसे आयबी, करबी इत्यादि। उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लए। (ख) ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।—तुलसी। यह प्रयोग ब्रजभाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्रायः सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है; सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि रामसहाय ने भी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है, तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं। साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है, वह इसी उदारता के बल से। इसी प्रकार 'स्यो' (=सह, साथ) शब्द बुँदेलखंड का समझा जाता है, जिसका प्रयोग केशवदासजी ने, जो बुँदेलखंड के थे, किया है; यथा—"अलि स्यो सरसीरुह राजत है।" बिहारी ने तो इसका प्रयोग किया ही है, पर उन्होंने जैसे करिबी और स्यो का प्रयोग किया है, वैसे ही अवधी कीन, दीन, केहि (=किसने) का प्रयोग भी तो किया है। स्यो का प्रयोग दास जी ने भी किया है जो खास अवध के थे; यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अतः किसी के काव्य में स्थान विशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही

का रहनेवाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यवहार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया? उदाहरण लीजिए—जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी। एतिक दूरि जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है प्यारी। महँगा के अर्थ में 'प्यारा' पंजाबी है। अब पूरबी का नमूना लीजिए—गोड़ चापि लै जीभ मरोरी। गोड़ (पैर) खास पूरबी है।

इस प्रकार हिंदी की तीन मुख्य भाषाएँ, ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का विवेचन समाप्त होता है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा ओकार-बहुला, अवधी एकार-बहुला और खड़ी बोली आकार-बहुला भाषा है।

———

छठा अध्याय

हिंदी का शास्त्रीय विकास

हिंदी का ऐतिहासिक विकास हम देख चुके हैं पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से किसी भी भाषा का विकास दिखाने के लिए उस भाषा की ध्वनि, रूप और अर्थ—तीनों का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाता है। यदि हिंदी का भी इसी प्रकार का अध्ययन किया जाय तो एक बड़ा ग्रंथ बन सकता है—भारोपीय काल की भाषा से लेकर वैदिक, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ठ, पुरानी हिंदी और आधुनिक हिंदी तक का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पूरे विस्तार के साथ विवेचन करने के लिये स्थान नहीं है तो भी संक्षिप्त परिचय देने के लिए हम क्रम से हिंदी की ध्वनि, रूप और अर्थ का विवेचन करेंगे।

हिंदी ध्वनि-समूह का परिचय

परिचय देने में जिन पारिभाषिक शब्दों की हमारे अन्य ग्रंथों में व्याख्या हो चुकी है उन्हीं का हम प्रयोग करेंगे। जैसे यदि हम कहें कि 'क' 'श्वास कंठ्य स्पर्श' है तो इस वर्णन से यह समझ लेना चाहिए कि 'क' एक व्यंजन है जिसके उच्चारण में जिह्वामध्य ऊपर उठकर कंठ (अर्थात् कोमल तालु) को छू लेता है; कोमल तालु इतना ऊँचा उठा रहता है कि हवा नासिका में नहीं जा पाती अर्थात् यह ध्वनि अनुनासिक नहीं है; हवा जब फेफड़ों में से निकलकर ऊपर को आती है तो स्वर-तंत्रियाँ कंपन नहीं करतीं (इसी से तो वह श्वास-ध्वनि है); और जीभ कंठ को छूकर इतना शीघ्र हट जाती है कि स्फोट-ध्वनि उत्पन्न हो जाती है (इसी से वह स्पर्श-ध्वनि कही जाती है)। इसी प्रकार यदि 'इ' को 'संवृत अग्र' स्वर कहा जाता है तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि 'इ' एक स्वर है; उसके उच्चारण में जिह्वाग्र कोमल तालु के इतने पास उठकर पहुँच जाता है कि मार्ग बंद सा हो जाने पर घर्षण नहीं सुनाई पड़ता और कोमल तालु नासिकामार्ग को बंद किए रहता है।

स्वर

(१) अ—यह ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मिश्र स्वर है अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति न बिलकुल पीछे रहती है और न बिलकुल आगे। और यदि जीभ की खड़ी स्थिति अर्थात् ऊँचाई-निचाई का विचार करें तो इस ध्वनि के उच्चारण में जीभ नीचे नहीं रहती—थोड़ा सा ऊपर उठती है इससे उसे अर्द्धविवृत मानते हैं। इसका उच्चारण-काल केवल एक मात्रा है। उदाहरण—अब, कमल, घर, में अ, क, म, घ। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी शब्द और अक्षर के अंत में अ का उच्चारण नहीं होता। ऊपर के ही उदाहरणों में ब, ल, र में हलंत उच्चारण होता है—अ का उच्चारण नहीं होता। पर इस नियम के अपवाद भी होते हैं जैसे दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है; जैसे—सत्य, सीय। 'न' के समान एकाक्षर शब्दों में भी अ पूरा उच्चारित होता है; पर यदि हम वर्णमाला में अथवा अन्य किसी स्थल में क, ख, ग आदि वर्णों को गिनाते हैं तो अ का उच्चारण नहीं होता अतः 'क' लिखा रहने पर भी ऐसे प्रसंगों में वह हलंत क् ही समझा जाता है।

समानाक्षर

(२) आ—यह दीर्घ और विवृत पश्च स्वर है और प्रधान आ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह अ का दीर्घ रूप नहीं है क्योंकि दोनों में मात्रा-भेद ही नहीं, प्रयत्न-भेद और स्थान-भेद भी है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है और आ के उच्चारण में बिलकुल पीछे रहती है अतः स्थान-भेद हो जाता है। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता।

उदा०—आदमी, काम, स्थान।

(३) ऑ—अँगरेजी के कुछ तत्सम शब्दों के बोलने और लिखने में ही इस अर्धविवृत पश्च ऑ का व्यवहार होता है। इसका स्थान आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ऑ से थोड़ा नीचा होता है।

उदा०—कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड।

(४) ऑ—यह अर्धविवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। अर्थात् इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग (=जिह्वामध्य) अर्धविवृत पश्च प्रधान स्वर की अपेक्षा थोड़ा ऊपर और भीतर की ओर जाकर

दब जाता है। होठ गोल रहते हैं। इसका व्यवहार ब्रजभाषा में पाया जाता है।

उदा०—अवलोकि हौं सोच-विमोचन को (कवितावली; बालकांड १); बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव न चढ़ाइहौं जू (कवितावली, अयोध्याकांड ६)।

(५) ऑ—यह अर्द्धविवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओं से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसका व्यवहार भी ब्रजभाषा में ही मिलता है।

उदा०—वाकॉ, ऐसॉ, गयॉ, भयॉ।

ओ से इसका उच्चारण भिन्न होता है इसी से प्रायः लोग ऐसे शब्दों में 'औ' लिख दिया करते हैं।

(६) ओ—यह अर्धसंवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका रहता है। ब्रजभाषा और अवधी में इसका प्रयोग मिलता है। पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं (कवितावली, बालकांड, ४), ओहि केर बिटिया (अवधी बोली)।

(७) ओ—यह अर्धसंवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी में यह समानाक्षर अर्थात् मूलस्वर है। संस्कृत में भी प्राचीन काल में ओ संध्यक्षर था पर अब तो न संस्कृत ही में यह संध्यक्षर है और न हिंदी में।

उदा०—ओर, ओला, हटो, घोड़ा।

(८) उ—यह संवृत ह्रस्व पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य अर्थात् जीभ का पिछला भाग कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है।

उदा०—उस, मधुर, ऋतु।

(९) उ़—यह जपित ह्रस्व संवृत पश्च वृत्ताकार स्वर है। हिंदी की कुछ बोलियों में 'जपित' अर्थात् फुसफुसाहटवाला उ भी मिलता है।

उदा०—ब्र० जातउ़, ब्र० आवतउ़; अव० भोरउ़।

(१०) ऊ—यह संवृत दीर्घ पश्च वृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़े ही नीचे होता है। इसके

उच्चारण में ह्रस्व उ की अपेक्षा ओठ भी अधिक संकीर्ण (बंद से) और गोल हो जाते हैं।

उदा०—ऊसर, मूसल, आलू

(११) ई—यह संवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ऊपर कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे ही रहता है, और होठ भी फैले रहते हैं।

उदा०—ईश, अहीर, पाती।

(१२) इ—यह संवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा-स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा पीछे मध्य की ओर रहता है तथा होठ फैले तथा ढीले रहते हैं।

उदा०—इमली, मिठाई, जाति।

(१३) इ॰—यह इ का जपित रूप है। दोनों में अंतर इतना है कि इ नाद और घोष ध्वनि है पर इ॰ जपित है। यह केवल व्रज, अवधी आदि बोलियों में मिलती है।

उदा०—व्र० आवतइ॰, अव० गोलि॰।

(१४) ए—यह अर्धसंवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है।

उदा०—एक, अनेक, रहे।

(१५) ए़—यह अर्धसंवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा नीचा और मध्य की ओर रहता है। इसका भी व्यवहार विभाषाओं और बोलियों में ही होता है।

उदा०—व्र०—अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली), अव० आहि केर बेटवा।

(१६)—ए॰—नाद ए का यह जपित रूप है और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि भी साहित्यिक हिंदी में नहीं है, केवल बोलियों में मिलती है; जैसे—अवधी—कहेसु।

(१७) ऍ—यह अर्धविवृत दीर्घ अग्र स्वर है। इसका स्थान प्रधान स्वर ऍ से कुछ ऊँचा है। ऑ के समान ऍ भी व्रज की बोली की विशेषता है।

उदा०—ऍसो, कॅसो।

(१८) एॅ—यह अर्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। यह दीर्घ ए की अपेक्षा थोड़ा नीचा और भीतर की ओर झुका रहता है।

उदा०—सुत गोद कॅ भूपति लै निकसे में कॅ। हिंदी संध्यक्षर ऐ भी शीघ्र बोलने से ह्रस्व समानाक्षर एॅ के समान सुन पड़ता है।

(१९) अ'—यह अर्धविवृत ह्रस्वार्ध मिश्र स्वर है और हिंदी 'अ' से मिलता-जुलता है। इसके उच्चारण में जीभ 'अ' की अपेक्षा थोड़ा और ऊपर उठ जाती है। जब यह ध्वनि काकल से निकलती है तब काकल के ऊपर के गले और मुख में कोई निश्चित क्रिया नहीं होती; इससे इसे अनिश्चित (Indeterminate) अथवा उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं। इस पर कभी बल-प्रयोग नहीं होता। अँगरेजी में इसका संकेत ə है। पंजाबी भाषा में यह ध्वनि बहुत शब्दों में सुन पड़ती है; जैसे—पं० रईस, व'चारा (हिं० बिचारा), नौक'र। कुछ लोगों का मत है कि यह उदासीन अ' पश्चिमी हिंदी की पश्चिमी बोली में भी पाया जाता है। अवधी में तो यह पाया ही जाता है; जैसे—सोरही रामक।

आजकल की टकसाली खड़ी बोली के उच्चारण के विचार से इन १९ अक्षरों में से केवल ९ ही विचारणीय हैं—अ, आ, ऑ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। उनमें भी ऑ केवल विदेशी शब्दों में प्रयुक्त होता है अर्थात् हिंदी में समानाक्षर आठ ही होते हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी में ह्रस्व एॅ और ऑ का भी व्यवहार होता है; जैसे—एॅक्का, सॊनार, लॊहार। शेष विशेष स्वर विभाषाओं और बोलियों में ही पाए जाते हैं।

खड़ी बोली के स्वर

ऊपर वर्णित सभी अक्षरों के प्रायः अनुनासिक रूप भी मिलते हैं पर इनका व्यवहार शब्दों में सभी स्थानों पर नहीं होता—कुछ विशेष स्थानों पर ही होता है। हिंदी की बोलियों में बुँदेली अधिक अनुनासिक-बहुला है।

अनुनासिक स्वर

अनुनासिक और अननुनासिक स्वरों का उच्चारण-स्थान तो वही रहता है; अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में केवल कोमल तालु और कौआ कुछ नीचे झुक जाते हैं जिससे हवा मुख के अतिरिक्त नासिका-विवर में भी पहुँच जाती है और गूँजकर निकलती है। इसी से स्वर 'अनुनासिक' हो जाते हैं। उदाहरण—

अँ—अँगरखा, हँसी, गँवार।
आँ—आँसू, बाँस, साँचा।
इँ—बिँदिया, सिँघाड़ा, धनिँया।
ईं—ईंट, ईंगुर, सींचना, आईं।
उँ—घुँघची, बुँदेली, मुँह।
ऊँ—ऊँघना, सूँघना, गेहूँ।
एँ—गेंद, एँचा, बातें।

इसके अतिरिक्त व्रज के लौं, सौं, हौं, मैं आदि अवधी के धंटुआ, गौंठिवा (गाँठ में बाँधूँगा) आदि शब्दों में अन्य विशेष स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिलते हैं।

संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर

संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है अर्थात् जिनका उच्चारण एक अक्षरवत् होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर बड़ी शीघ्रता से जाते हैं जिससे साँस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है और अवयवों में परिवर्तन स्पष्ट लक्षित नहीं होता, क्योंकि इस परिवर्तन-काल में ही तो ध्वनि स्पष्ट होती है। अतः संध्यक्षर अथवा संयुक्त स्वर एक अक्षर हो जाता है; उसे ध्वनि-समूह अथवा अक्षर-समूह मानना ठीक नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो कई स्वर निकट आने से इतने शीघ्र उच्चरित होते हैं कि वे संध्यक्षर से प्रतीत होते हैं। इससे कुछ विद्वान् अनेक स्वरों के संयुक्त रूपों को भी संध्यक्षर मानते हैं।

हिंदी में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं और उन्हीं के लिये लिपि-चिह्न भी प्रचलित हैं। (१) ऐ ह्रस्व अ और ह्रस्व ए की संधि से बना है, उदा०—ऐसा, कैसा, वैर। और (२) औ ह्रस्व अ और ह्रस्व ओ की संधि से बना है; उदा०—औरत, बौनी, कौड़ी, सौ। इन्हीं दोनों ऐ, औ का उच्चारण कई बोलियों में अइ, अउ के समान भी होता है; जैसे—पैसा और मौसी, पइसा और मउसी के समान उच्चरित होते हैं।

यदि दो अथवा अनेक स्वरों के संयोग को संध्यक्षर मान लें तो भैया, कौआ, आओ, वोए आदि में अइआ, अउआ, आओ, ओए आदि

संध्यक्षर माने जा सकते हैं। इन तीन अथवा दो अक्षरों का शीघ्र उच्चारण मुखद्वार की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होते समय किया जाता है, इसी से इन्हें लोग संध्यक्षर मानते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रज, अवधी आदि बोलियों में अनेक स्वर-समूह पाए जाते हैं जो संध्यक्षर जैसे उच्चरित होते हैं। उदा०—(ब्र०) अइसी, गऊ और (अवधी) होइहै, होउ आदि।

व्यंजन

(१) क़—यह अल्पप्राण श्वास, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। इसका स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सबसे पीछे है।

स्पर्श-व्यंजन

इसका उच्चारण जिह्वामूल और कौए के स्पर्श से होता है। वास्तव में यह ध्वनि विदेशी है और अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। प्राचीन साहित्य में तथा साधारण हिंदी में क़ के स्थान पर क हो जाता है।

उदा०—क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़।

(२) क—यह अल्पप्राण, अघोष, कंठ्य स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्थात् जिह्वामध्य कोमल तालु को छूता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० आ० काल में कवर्ग का उच्चारण और भी पीछे होता था। क्योंकि कवर्ग 'जिह्वामूलीय' माना जाता था। पीछे कंठ्य हो गया। कंठ्य का अर्थ गले में उत्पन्न (guttural) नहीं लिया जाता। कंठ कोमल तालु का पर्याय है, अतः कंठ्य का अर्थ है 'कोमल-तालव्य'।

उदा०—कम, चकिया, एक।

(३) ख—यह महाप्राण, अघोष, कंठ्य-स्पर्श है। क और ख में केवल यही भेद है कि ख महाप्राण है।

उदा०—खेत, भिखारी, सुख।

(४) ग—अल्पप्राण, घोष, कंठ्य स्पर्श है।

उदा०—गमला, गागर, नाग।

(५) घ—महाप्राण, घोष, कंठ्य-स्पर्श है।

उदा०—घर, रिघाना, बघारना, करघा।

(६) ट—अल्पप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है। मूर्धा से कठोर तालु का सबसे पिछला भाग समझा जाता है पर आज समस्त टवर्गी ध्वनियाँ कठोर तालु के मध्यभाग में उलटी जीभ की नोक के स्पर्श से उत्पन्न होती हैं। तुलना की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही मूर्धन्य वर्णों का उच्चारण-स्थान तालव्य वर्णों की अपेक्षा पीछे है। वर्ण-माला में कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दंत्य वर्णों को क्रम से रखा जाता है इससे यह न समझना चाहिए कि कंठ के बाद तालु और तब मूर्धा आता है। प्रत्युत कंठ्य और तालव्य तथा मूर्धन्य और दंत्य वर्णों के परस्पर संबंध को देखकर यह वर्णक्रम रखा गया है—वाक् से वाच् का और विकृत से विकट का संबंध प्रसिद्ध ही है।

उदा०—टीका, रटना, चौपट।

अँगरेजी में ट, ड् ध्वनि नहीं हैं। अँगरेजी t और d वर्त्स्य हैं अर्थात् उनका उच्चारण ऊपर के मसूढ़े को बिना उलटी हुई जीभ की नोक से छूकर किया जाता है; पर हिंदी में वर्त्स्य ध्वनि न होने से बोलनेवाले इन अँगरेजी ध्वनियों को प्रायः मूर्धन्य बोलते हैं।

(७) ठ—महाप्राण, अघोष, मूर्धन्य, स्पर्श है।

उदा०—ठाट, कठघरा, साठ।

(८) ड—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य, स्पर्श-व्यंजन है।

उदा०—डाक, गाडर, गँडेरी, टोडर, गड्ढा, खड।

(९) ढ—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य स्पर्श है।

उदा०—ढकना, ढीला, षंढ, पंढरपूर, मेंढक।

ढ का प्रयोग हिंदी तद्भव शब्दों के आदि में ही पाया जाता है। षंढ संस्कृत का और पंढरपूर मराठी का है।

(१०) त—अल्पप्राण, अघोष, दंत्य-स्पर्श है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक दाँतों की ऊपरवाली पंक्ति को छूती है।

उदा०—तब, मतवाली, बात।

(११) थ—त और थ में केवल यही भेद है कि थ महाप्राण है।

उदा०—थोड़ा, पत्थर, साथ।

(१२) द—इसका भी उच्चारण त की भाँति होता है। यह अल्पप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—दादा, मदारी, चाँदी।

(१३) ध—महाप्राण, घोष, दंत्य स्पर्श है।

उदा०—धान, बधाई, आधा।

(१४) प—अल्पप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में दोनों ओठों का स्पर्श होता है और जीभ से सहायता नहीं ली जाती। यदि कोई ओष्ठ्य वर्ण शब्द अथवा 'अक्षर' के अंत में आता है तो उसमें केवल स्पर्श होता है, स्फोट नहीं होता।

उदा०—पत्ता, अपना, बाप।

(१५) फ—यह महाप्राण, अघोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—फूल, बफारा, कफ।

(१६) ब—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०— बीन, धोबिन, अब।

(१७) भ—यह महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य स्पर्श है।

उदा०—भला, मनभर, साँभर, कभी।

(१८) च—च के उच्चारण में जिह्वोपाग्र ऊपरी मसूढ़ों के पास के ताल्वग्र का इस प्रकार स्पर्श करता है कि एक प्रकार की रगड़ होती है अतः यह घर्ष-स्पर्श अथवा स्पर्श-संघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु की दृष्टि से देखें तो कंठ के आगे टवर्ग आता है और उसके आगे चवर्ग अर्थात् चवर्ग का स्थान आगे की ओर बढ़ गया है।

घर्ष-स्पर्श

च—अल्पप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श व्यंजन है।

उदा०—चमार, कचनार, नाच।

(१९) छ—महाप्राण, अघोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—छिलका, कुछ, कछार।

(२०) ज—अल्पप्राण, घोष, तालव्य स्पर्श-घर्ष वर्ण है।

उदा०—जमना, जाना, काजल, आज।

(२१) झ—महाप्राण, घोष, तालव्य घर्ष-स्पर्श वर्ण है।

उदा०—झाड़, सुलझाना, बाँझ।

(२२) ङ—घोष, अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक स्पर्श-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जिह्वामध्य कोमल तालु का स्पर्श करता है और कौआ सहित कोमल तालु कुछ नीचे झुक आता है जिससे कुछ हवा नासिकाविवर में पहुँचकर गूँज उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार स्पर्श-ध्वनि अनुनासिक हो जाती है।

अनुनासिक

शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ङ सुनाई पड़ता है। शब्दों के आदि या अंत में इसका व्यवहार नहीं होता। स्वर-सहित ङ का भी व्यवहार हिंदी में नहीं पाया जाता।

उदा०—रंक, शंख, कंघा, भंगी।

(२३) ञ्—घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। हिंदी में यह ध्वनि होती ही नहीं और जिन संस्कृत शब्दों में वह लिखी जाती है उनमें भी उसका उच्चारण न् के समान होता है जैसे—चञ्चल, अञ्चल आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, अन्चल की भाँति होता है। कहा जाता है कि व्रज, अवधी आदि में ञ ध्वनि पाई जाती है; पर खड़ी बोली के साहित्य में वह नहीं मिलती।

(२४) ण—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य अनुनासिक स्पर्श है। स्वर-सहित ण केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलता है और वह भी शब्दों के आदि में नहीं।

उदा०—गुण, मणि, परिणाम।

संस्कृत शब्दों में भी पर-सवर्ण 'ण' का उच्चारण 'न' के समान ही होता है। जैसे-सं० पंडित, कंठ आदि पन्डित, कन्ठ आदि के समान उच्चरित होते हैं। अर्द्ध स्वरों के पहले अवश्य हलंत ण ध्वनि सुन पड़ती है, जैसे—कण्व, गण्य, पुण्य आदि। इनके अतिरिक्त जिन हिंदी शब्दों में यह ध्वनि बताई जाती है उनमें 'न' की ही ध्वनि सुन पड़ती है; जैसे—कंडा, घंटा, ठंढा।

(२५) न—अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक स्पर्श है। इसके उच्चारण में ऊपर के मसूढ़े के जिह्वानीक का स्पर्श होता है। अतः इसे दंत्य मानना उचित नहीं।

उदा०— नमक, कनक, कान, बंदर।

(२६) न्ह—महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। पहले इसे विद्वान् संयुक्त व्यंजन मानते थे पर अब कुछ आधुनिक विद्वान् इसे घ, ध, भ आदि की तरह मूल महाप्राण ध्वनि मानते हैं।

उदा०—उन्हें, कन्हैया, जुन्हैया, नन्हा।

(२७) म—अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य अनुनासिक स्पर्श है।

उदा०—माता, रमता, काम।

(२८) म्ह—महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक स्पर्श है। न्ह के समान इसे भी अब विद्वान् संयुक्त व्यंजन न मानकर मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं।

उदा०—तुम्हारा, कुम्हार।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि हिंदी के विचार से न, न्ह, म और म्ह, ये ही अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। शेष तीन ङ्, ञ् और ण के स्थान में 'न' ही आता है। केवल तत्सम शब्दों में इनका प्रयोग किया जाता है। और अनुस्वार के विचार से तो दो ही प्रकार के उच्चारण होते हैं—न और म।

पार्श्विक

(२९) ल—पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूढ़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दोनों ओर खुला स्थान रहने से हवा निकला करती है। यद्यपि ल और र एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं पर ल पार्श्विक होने से सरल होता है।

उदा०—लाल, जलना, कल।

(३०) ल्ह—यह ल का महाप्राण रूप है। न्ह और म्ह की भाँति यह भी मूल-व्यंजन ही माना जाता है। इसका प्रयोग केवल बोलियों में मिलता है।

उदा०—ब्र०—काल्हि, कल्ह (बुँदेलखंडी), ब्र० सल्हा (हिं० सलाह)। 'कल्ही' जैसे खड़ी बोली के शब्दों में भी यह ध्वनि सुन पड़ती है।

लुंठित

(३१) र—लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष-ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक लपेट खाकर वर्त्स अर्थात् ऊपर के मसूढ़े को कई बार जल्दी जल्दी छूती है।

उदा०—रटना, करना, पार, रिण।

(३२) र्ह—र का महाप्राण रूप है। इसे भी मूल ध्वनि माना जाता है। पर यह केवल बोलियों में पाई जाती है। जैसे—कर्हानो, उर्हानो आदि (ब्रज०)।

उत्क्षिप्त

(३३) ड़—अल्पप्राण, घोष, मूर्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी की नवीन ध्वनियों में से यह एक है। इसके उच्चारण में उलटी जीभ की नोक से कठोर तालु का स्पर्श झटके के साथ किया जाता है। ड़ शब्दों के आदि में नहीं आता; केवल मध्य अथवा अंत में दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उदा०—सूँड़, कड़ा, बड़ा, बड़हार। हिंदी में इस ध्वनि का बाहुल्य है।

(३४) ढ़—महाप्राण, घोष, मूर्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। यह ड़ का ही महाप्राण रूप है। ड, ढ स्पर्श हैं और ड़, ढ़ उत्क्षिप्त ध्वनि हैं। बस यही भेद है। ड, ढ का व्यवहार शब्दों के आदि में ही होता है और ड़, ढ़ का प्रयोग दो स्वरों के बीच में ही होता है।

उदा०—बढ़ना, बूढ़ा, मूढ़।

(३५) ह—काकल्य, घोष, घर्ष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ, तालु अथवा होठों से सहायता नहीं ली जाती। जब हवा फेफड़े में से वेग से निकलती है और मुखद्वार के खुले रहने से काकल के बाहर रगड़ उत्पन्न करती है तब इस ध्वनि का उच्चारण होता है। ह और अ में मुख के अवयव प्राय: समान रहते हैं पर ह में रगड़ होती है।

घर्ष वर्ण

उदा०—हाथ, कहानी, टोह।

ह के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'ह' शब्द के आदि और अंत में अघोष उच्चरित होता है; जैसे—हम, होठ, हिंदु और छिह्, छह्, कह्, यह् आदि। पर जब ह दो स्वरों के मध्य में आता है तब उसका उच्चारण घोष होता है, जैसे—रहन, सहन। पर जब वह महाप्राण व्यंजनों में सुन पड़ता है तब कभी अघोष और कभी घोष होता है। जैसे—ख, छ, थ में अघोष ह है और घ, झ, ध, ढ, भ, ल्ह, न्ह आदि में घोष है। अघोष ह का ही नाम विसर्ग है। 'ख' जैसे वर्णों में और छि: जैसे शब्दों के अंत में यही अघोष ह अथवा विसर्ग सुन पड़ता है। यह सब कल्पना अनुमान और स्थूल पर्यवेक्षण से सर्वथा संगत लगती है पर अभी परीक्षा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है। कादरी, सक्सेना, चैटर्जी आदि ने कुछ प्रयोग किए हैं पर उनमें भी ऐकमत्य नहीं है।

विसर्ग के लिये लिपि-संकेत ह अथवा : है। हिंदी ध्वनियों में इसका प्रयोग कम होता है। वास्तव में यह अघोष ह है पर कुछ लोग इसे पृथक् ध्वनि मानते हैं।

विसर्ग

(३६) ख़—ख़ जिह्वामूलीय, अघोष, घर्ष-ध्वनि है। इसका उच्चारण जिह्वामूल और कोमल तालु के पिछले भाग से होता है, पर

दोनों अवयवों का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। अतः उस खुले विवर से हवा रगड़ खाकर निकलती है, अतः इसे स्पर्श-व्यंजनों के वर्ग में रखना उचित नहीं माना जाता। यह ध्वनि फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है और हिंदी बोलियों में स्पर्श ख के समान उच्चरित होती है।

उदा०—ख़राब, बुख़ार और बलख़।

(३७) ग़—इसमें और ख़ में केवल एक भेद है कि यह घोष है। अर्थात ग़ जिह्वामूलीय, घोष, घर्ष-ध्वनि है। यह भी भारतीय ध्वनि नहीं है, केवल फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में पाई जाती है। वास्तव में ग़ और ग में कोई संबंध नहीं है पर बोलचाल में ग़ के स्थान में ग ही बोला जाता है।

उदा०—ग़रीब,चोग़ा, दाग़।

(३८) श—यह अघोष, घर्ष, तालव्य ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक कठोर तालु के बहुत पास पहुँच जाती है पर पूरा स्पर्श नहीं होता, अतः तालु और जीभ के बीच में से हवा रगड़ खाती हुई बिना रुके आगे निकल जाती है। इसी से यह ध्वनि घर्ष तथा अनवरुद्ध कही जाती है। इसमें 'शी', 'शी' के समान ऊष्मा निकलता है इससे इसे ऊष्म ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्राचीन है। साथ ही यह अँगरेजी, फारसी, अरबी आदि से आए हुए विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है। पर हिंदी की बोलियों में श का दंत्य (स) उच्चारण होता है।

उदा०—शांति, पशु, यश, शायद, शाम, शेयर, शेड।

(३९) स—वर्त्स्य, घर्ष, अघोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में जीभ की नोक और वर्त्स के बीच घर्षण (रगड़) होता है।

उदा० सेवक, असगुन, कपास।

(४०) ज़—ज़ और स का उच्चारण-स्थान एक ही है। ज़ भी वर्त्स्य, घर्ष-ध्वनि है किंतु यह घोष है। अतः ज़ का संबंध स से है; ज से नहीं। ज़ भी विदेशी ध्वनि है और फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही बोली जाती है। हिंदी बोलियों में ज़ का ज हो जाता है।

उदा०—ज़ुल्म, गुज़र बाज़।

(४१) फ़—दंतोष्ठ्य, घर्ष, अघोष व्यंजन है। इसके उच्चारण में नीचे का होठ ऊपर के दाँतों से लग जाता है पर होठ और दाँत दोनों के बीच में से हवा रगड़ के साथ निकलती रहती है। इसको द्व्योष्ठ्य फ का रूपांतर मानना शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है। वास्तव में फ़ विदेशी ध्वनि है और विदेशी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है। हिंदी बोलियों में इसका स्थान फ ले लेता है।

उदा०—फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

(४२) व—उच्चारण फ़ के समान होता है। परंतु यह घोष है। अर्थात् व दंतोष्ठ्य घोष घर्ष-ध्वनि है। यह प्राचीन ध्वनि है और विदेशी शब्दों में भी पाई जाती है।

उदा०—वन, सुवन, यादव।

(४३) य (अथवा इ॒)—यह तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वोपाग्र कठोर तालु की ओर उठता है पर स्पष्ट घर्षण नहीं होता। जिह्वा का स्थान भी व्यंजन च और स्वर इ के बीच में रहता है इसी से इसे अंतस्थ अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि मानते हैं।

अर्द्धस्वर (अंतस्थ)

वास्तव में व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनियाँ हैं घर्ष व्यंजन। जब किसी घर्ष व्यंजन में घर्ष स्पष्ट नहीं होता तब वह स्वरवत् हो जाता है। ऐसे ही वर्णों को अर्धस्वर अथवा अंतस्थ कहते हैं। य इसी प्रकार का अर्धस्वर है।

उदा०—कन्या, प्यास, ह्याँ, यम, धाय, आए।

य का उच्चारण एअ सा होता है और कुछ कठिन होता है, इसी से हिंदी बोलियों में य के स्थान में ज हो जाता है। जैसे—यमुना—जमुना, यम—जम।

(४४) व॒—ओअ से बहुत कुछ मिलता है। यह घर्ष व का ही अघर्ष रूप है। यह ध्वनि प्राचीन है। संस्कृत तत्सम और हिंदी तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों में पाई जाती है।

उदा०—क्वा॒र, स्वा॒द, स्व॒र, अध्व॒र्यु आदि।

अब हम नीचे वैदिक, परवर्ती संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी और हिंदी के ध्वनि-समूह का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे हिंदी की ध्वनियों का एक इतिहास प्रस्तुत हो जाय।

हमारी संस्कृत भाषा उस भारोपीय परिवार की कन्या है जिसका विद्वानों द्वारा सुंदर अध्ययन हुआ है। इस परिवार की अनेक भाषाएँ आज भी जीवित हैं, अनेक के साहित्य-चिह्न मिलते हैं और इन्हीं के आधार पर इस परिवार की आदिमाता अर्थात् भरोपीय मातृभाषा की भी रूप-रेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतः हिंदी की ध्वनियों का इतिहास जानने के लिये उस भारोपीय मातृभाषा की ध्वनियों से भी संक्षिप्त परिचय कर लेना अच्छा होता है। यद्यपि आदिभाषा की ध्वनियों के विषय में मतभेद है तथापि हम अधिक विद्वानों द्वारा गृहीत सिद्धांतों को मानकर ही आगे बढ़ेंगे। विशेष विवाद यहाँ उपयोगी नहीं प्रतीत होता। उस मूल भारोपीय भाषा में स्वर और व्यंजन दोनों की ही संख्या अधिक थी। कुछ दिन पहले यह माना जाता था कि संस्कृत की वर्णमाला सबसे अधिक पूर्ण है। यही ध्वनियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ मूल भाषा में रही होंगी पर अब खोजों द्वारा सिद्ध हो गया है कि संस्कृत की अपेक्षा मूल भाषा में स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ कहीं अधिक थीं।

भारोपीय ध्वनि-समूह

स्वर—उस काल के अक्षरों का ठीक उच्चारण सर्वथा निश्चित तो नहीं हो सका है तो भी सामान्य व्यवहार के लिये निम्नलिखित संकेतों से उन्हें हम प्रकट कर सकते हैं।

समानाक्षर—ă, ā; ĕ, ē; ŏ, ō; ə; ĭ, ī; ŭ, ū;

(१) इनमें से a, e, o, i, u ह्रस्व अक्षर हैं। नागरी लिपि में हम इन्हें अ, प्र, ओ, इ तथा उ से अंकित कर सकते हैं। (२) और ā आ, ē ए, ō ओ, ī ई और ū ऊ दीर्घ अक्षर होते हैं। (३) ə अ एक ह्रस्वार्ध स्वर है जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता। इसे ही उदासीन (neutral) स्वर कहते हैं।

स्वनंत वर्ण—उस मूल भाषा में कुछ ऐसे स्वनंत वर्ण भी थे जो अक्षर का काम करते थे; जैसे—m̥, n̥, r̥, l̥; नागरी में इन्हें हम म्, न्, र्, ल् लिख सकते हैं। m̥, n̥ आक्षरिक अनुनासिक व्यंजन हैं और r̥, l̥ आक्षरिक द्रव अथवा अंतस्थ व्यंजन हैं।

संध्यक्षर—अर्धस्वरों, अनुनासिकों और अन्य द्रव वर्णों के साथ स्वरों के संयोग से उत्पन्न अनेक संध्यक्षर अथवा संयुक्ताक्षर भी उस मूलभाषा में मिलते हैं। इनकी संख्या अल्प नहीं है। उनमें से मुख्य ये हैं—

ai̯, āi̯, ei̯ ēi̯, oi, ōi ; au̯, āu̯, en̯, ēu̯, ou̯, ōu ; əm ən, ər, el.

व्यंजन—स्पर्श-वर्ण—

(१) ओष्ठ्य वर्ण-	p,	ph,	b,	bh.
(२) दंत्य-	t,	th,	d,	dh.
(३) कंठ्य-	q,	qh,	g,	gh.
(४) मध्य कंठ्य-	k,	kh,	g,	gh.
(५) तालव्य	k͡,	k͡h,	g͡,	g͡h.

अनुनासिक व्यंजन—m, n, ṅ (ङ) और ñ (ञ्)

अर्धस्वर—i̯ और u̯ अर्थात् य और व।

द्रव-वर्ण—अनुनासिक और अर्धस्वर वर्णों के अतिरिक्त दो द्रववर्ण अवश्य मूल भारोपीय भाषा में विद्यमान थे अर्थात् र् और ल्।

सोष्म ध्वनि—s स, z ज़, j य, v व्ह, γ ग़, *p* थ, ḍ द, ये सात मुख्य सोष्म ध्वनियाँ थीं।

वैदिक ध्वनि-समूह

अब हम तीसरे काल की ध्वनियों का विचार करेंगे। वैदिक ध्वनि-समूह, सच पूछा जाय तो, इस भारोपीय परिवार में सबसे प्राचीन है। उस ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ पाई जाती हैं—१३ स्वर और ३९ व्यंजन।

स्वर—

नव समानाक्षर—अ, आ, इ, ई, उ ऊ, ऋ, ॠ, ऌ

चार संध्यक्षर—ए, ओ; ऐ, औ

व्यंजन—

कंठ्य—क, ख, ग, घ, ङ

तालव्य—च, छ, ज, झ, ञ

मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ळ, ळ्ह, ण

दंत्य—त, थ, द, ध, न

ओष्ठ्य - प, फ, ब, भ, म

अंतस्थ—य, र, ल, व

ऊष्म—श, ष, स

प्राणध्वनि—ह

अनुनासिक—ं(अनुस्वार)

अघोष सोष्म वर्ण—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय।

ऐतिहासिक तुलना की दृष्टि से देखें तो वैदिक भाषा में कई परिवर्तन देख पड़ते हैं। भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ उसमें नहीं

अभाव पाई जातीं। उसमें (१) ह्रस्व ĕ, ŏ और ə; (२) दीर्घ ē, ō; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi, ĕn, on ; āi, ēi, ōi, āu, ēu, ōu ; (४) स्वनंत अंतुनासिक व्यंजन, (५) और नाद सोष्म z का अभाव हो गया है।

वैदिक में (१) ĕ, ŏ के स्थान में ă अ, ə के स्थान में इ; (२) दीर्घ ē, ō के स्थान में आ; (३) संध्यक्षर ĕi, ŏi के स्थान में e ए,

परिवर्तन ĕu, ŏu के स्थान में o ओ; और ăz, ĕz, ŏz के स्थान में भी e, o; (४) r̥̄ के स्थान में ईर, ऊर; ḷ के स्थान में r̥ ऋ; (५) āi, ēi, ōi के स्थान में āi ऐ āu ēu, ōu के स्थान में āu औ; आता है। इसके अतिरिक्त जब ऋ के पीछें अनुनासिक आता है, ऋ का ॠ हो जाता है। अनेक कंठ्य वर्ण तालव्य हो गए हैं। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श वैदिक में सोष्म श के रूप में देख पड़ता है।

अर्जन—सात मूर्धन्य व्यंजन और एक मूर्धन्य ष ये आठ ध्वनियाँ वैदिक में नई संपत्ति है।

आजकल की भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

स्वर— (तेरह स्वर)

	पश्च	मध्य अथवा मिश्र	अग्र
संवृत (उच्च)	ऊ, उ		ई, इ
अर्ध-संवृत (उच्च-मध्य)	अ	(अं)	ए
अर्ध-विवृत (नीच-मध्य)	....	....	....
विवृत (नीच)	आ, अ		
संयुक्त स्वर	औ		ऐ
आक्षरिक			ऋ,ॠ,लृ

व्यंजन—

	काकल्य	कंठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	वर्त्स्य	द्वयोष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	च ज	ट ड	त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख घ	छ झ	ठ ढ	थ ध	फ भ
अनुनासिक		ङ	ञ	ण	न	म
घर्ष वर्ण	ह,ः (विस०)	⏜ (जिह्वा०)	श	ष	स	⏜(उप०)
पार्श्विक				ळ ळ्ह	ल	
उत्क्षिप्त					र	
अर्द्धस्वर			इ (य)			उ (व)

इन सब ध्वनियों के उच्चारण के विषय में अच्छी छानबीन हो चुकी है। (१) सबसे बड़ा प्रमाण कोई तीन हजार वर्ष पूर्व से अविच्छिन्न चली आनेवाली वैदिकों और संस्कृतज्ञों की परंपरा है। उनका उच्चारण अधिक भिन्न नहीं हुआ है। (२) शिक्षा और प्रातिशाख्य आदि से भी उस काल के उच्चारण का अच्छा परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरी निम्नलिखित सामग्री भी बड़ी सहायता करती है। (३) भारतीय नामों और शब्दों का ग्रीक प्रत्यक्षरीकरण (चीनी लेखों से विशेष लाभ नहीं होता पर ईरानी, मोन, ख्मेर, स्यामी, तिब्बती, बर्मी, जावा और मलय, मंगोल और अरबी के प्रत्यक्षरीकरण कभी कभी मध्य-कालीन उच्चारण के निश्चित करने में सहायता देते हैं।) (४) मध्य-कालीन आर्य-भाषाओं (अर्थात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि) और आधुनिक आर्य देश-भाषाओं (हिंदी, मराठी, बँगला आदि) के ध्वनि-विकास से भी प्रचुर प्रमाण मिलता है। (५) इसी प्रकार अवेस्ता, प्राचीन फारसी, ग्रीक, गाथिक, लैटिन आदि संस्कृत की सजातीय भारोपीय भाषाओं की तुलना से भी सहायता मिलती है। (६) और इन सबकी उचित खोज करने के लिये ध्वनि-शिक्षा के सिद्धांत और भाषा के सामान्य-ध्वनि विकास का भी विचार करना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करने पर जो प्राचीन उच्चारण की विशेषताएँ ध्यान में आती हैं उनमें से कुछ मुख्य बातें जान लेनी चाहिएँ। (१) सबसे पहली बात यह है कि आज ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत होता है। उसका यही उच्चारण पाणिनि और प्रातिशाख्यों के समय में भी होता था पर वैदिक काल के प्रारंभ में अ विवृत उच्चरित होता था। वह विवृत अ का ह्रस्व रूप था। (२) इसी प्रकार ऋ और ऌ का उच्चारण भी आज से भिन्न होता था। आज ऋ का उच्चारण रि अथवा रु के समान किया जाता है पर प्राचीन काल में ऋ स्वर थी—आक्षरिक र थी। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि ऋ के मध्य में र का अंश मिलता है (ऋ = $\frac{1}{4}$ अ + $\frac{1}{2}$ र + $\frac{1}{4}$ अ)। इस प्रकार वैदिक ऋ प्राचीन ईरानी (अर्थात् अवेस्ता) की (. erə) ध्वनि की बराबरी पर रखी जा सकती है। (३) ऌ का प्रयोग तो वेद में भी कम होता है और पीछे तो सर्वथा लुप्त ही हो गया। उसका उच्चारण बहुत कुछ अँगरेजी के little शब्द में उच्चरित आक्षरिक ल के समान होता था। (४) संध्यक्षर

ए, ओ का उच्चारण जिस प्रकार आज दीर्घ समानाक्षरों के समान होता है वैसा ही संहिता-काल में भी होता था क्योंकि ए और ओ के परे अ का अभिनिधान हो जाता था। यदि ए, ओ संध्यक्षरवत् उच्चरित होते तो उनका संधि में अय और अव रूप ही होता। पर अति प्राचीन काल में वैदिक ए, ओ संध्यक्षर थे क्योंकि संधि में वे अ+इ और अ+उ से उत्पन्न होते हैं। श्रोतृ और श्रवः, ऐति और अयन जैसे प्रयोगों में भी यह संध्यक्षरत्व स्पष्ट देख पड़ता है। अतः वैदिक ए, ओ उच्चारण में तो भारोपीय मूलभाषा के समानाक्षर से प्रतीत होते हैं पर वास्तव में वे अइ, अउ संध्यक्षरों के विकसित रूप हैं। (५) दीर्घ संध्यक्षर ऐ, औ का प्राचीनतम उच्चारण तो आइ, आउ है पर प्रातिशाख्यों के वैदिक काल में ही उनका उच्चारण अइ, अउ होने लगा था और यही उच्चारण आज तक प्रचलित है। (६) अवेस्ता के समान वैदिक उच्चारण की एक विशेषता स्वर-भक्ति भी है। जब किसी व्यंजन का रेफ अथवा अनुनासिक से संयोग होता है तब प्रायः एक लघुस्वर दोनों व्यंजनों के बीच में सुन पड़ता है। इस स्वर को स्वरभक्ति कहते हैं। जैसे इंद्र का इंदर (Indara), ग्ना का गना। इस स्वर-भक्ति की मात्रा $\frac{१}{२}$, $\frac{३}{४}$ अथवा $\frac{१}{४}$ मानी गई है पर वह पूर्ण स्वर नहीं है। (७) इसके अतिरिक्त वैदिक उच्चारण में भी दो स्वरों के बीच में उसी प्रकार विवृत्ति पाई जाती थी जिस प्रकार पीछे प्राकृत में और आज देश-भाषाओं में मिलती है, परवर्त्ती लौकिक संस्कृत में विवृत्ति नहीं पाई जाती पर वैदिक में तितउ (चलनी) के समान शब्द तो थे ही; 'ज्येष्ठ' के समान शब्दों में भी ज्य+इष्ठ अ और इ का उच्चारण पृथक् पृथक् होता था।

व्यंजनों का उच्चारण आज की हिंदी में भी बहुत कुछ वैसा ही है। वैदिक तालव्य-स्पर्शों में सोष्मता कुछ कम थी पर पीछे सोष्म श्रुति इतनी बढ़ गई है कि तालव्य वर्ग को घर्ष-स्पर्श मानना ही उचित जान पड़ा। तालव्य श पहले तो कंठ और तालु के मध्य में उच्चरित होता था इसी से कभी क और कभी च के स्थान में आया करता था पर पीछे से तालु के अधिक आगे उच्चरित होने लगा, इसी से वैदिक में श और स एक दूसरे के स्थान में भी आने-जाने लगे थे।

मूर्धन्य वर्ण तालु के मूर्धा से अर्थात् सबसे ऊँचे स्थान से उच्चरित होते थे। इसी से मूर्धन्य ष का प्राचीन उच्चारण जिह्वामूलीय x के

समान माना जाता है। इसी कारण मध्यकाल में ष के स्थान में 'ख' उच्चारण मिलता है। उस प्राचीन मूर्धन्य उच्चारण से मिलता-जुलता ख होने से वही मध्यकाल से लेकर आज तक ष का समीपी समझा जाता है। संस्कृत का स्नुषा, स्लाव्ह का स्नुख़ा (Snuxa), पष्तो और पख़्तो आदि की तुलना से भी ष के प्राचीन उच्चारण की यही कल्पना पुष्ट होती है। ळ, ळ्ह ऋग्वेद की किसी विभाषा में प्रयुक्त होते थे इसी से पाली से होते हुए अपभ्रंश और हिंदी मराठी आदि में तो आ गए पर वे साहित्यिक संस्कृत, प्राकृत आदि से बाहर ही रहे।

द्व्योष्ठ्य ध्वनियों की अर्थात् प, फ, ब आदि की कोई विशेषता उल्लेखनीय नहीं है पर उपध्मानीय फ़ (F) के उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए। दीपक बुझाने में मुख से दोनों होठों के बीच से जो धौंकनी की सी ध्वनि निकलती है वही उपध्मानीय ध्वनि है। यह उत्तर भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं में साधारण ध्वनि हो गई है। प्राचीन वैदिक काल में प के पूर्व में जो अघोष ह रहता था वह उपध्मानीय ध्वनि इसी F (फ़) की प्रतिनिधि थी। जैसे—पुन ≍ पुनः। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों को ही संस्कृत में ≍ इस चिह्न से प्रकट करते हैं। और उपध्मानीय की भाँति जिह्वामूलीय भी विसर्जनीय का एक भेद है। जो विसर्ग 'क' के पूर्व में आवे वह जिह्वामूलीय है; जैसे—ततः किम् में विसर्ग जिह्वामूलीय है। इसका उच्चारण जर्मन भाषा के ach में ch के रूप में मिलता है।

अर्द्धस्वर इ, उ (य, व) वैदिक काल में स्वरवत् काम में आते थे पर पाणिनि के काल में आकर उ सोष्म वकार हो गया। उसके दंतोष्ठ्य उच्चारण का वर्णन पाणिनीय व्याकरण में मिलता है पर व का द्व्योष्ठ्य उच्चारण भी उसी काल में प्रचलित हो गया था और आज तक चला जा रहा है। इस प्रकार परवर्ती संस्कृतकाल में सोष्म व के दो उच्चारण प्रचलित थे पर प्राचीनतर वैदिककाल में उसमें स्वरत्व अधिक था। इ भी पीछे सोष्म ध्वनि हो गई जिससे 'य' के स्थान में Zh ज़ के समान ध्वनि वैदिक काल में ही सुन पड़ने लगी थी।

अनुस्वार का वैदिक उच्चारण भी कुछ भिन्न होता था। आज अनुस्वार का उच्चारण प्रायः म अथवा न के समान होता है पर प्राचीन वैदिक काल में अनुस्वार स्वर के पीछे सुन पड़नेवाली एक अनुनासिक

श्रुति थी। इसका विचार वैदिक भाषा में अधिक होता था पर आजकल उसका विचार अनुनासिक व्यंजनों के अंतर्गत मान लिया गया है।

वैदिक के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के दो प्रारंभिक रूप हमारे सामने आते हैं—लौकिक संस्कृत और पाली। लौकिक संस्कृत उसी प्राचीन भाषा का ही साहित्यिक रूप था और पाली उस प्राचीन भाषा की एक विकसित बोली का साहित्यिक रूप। हम दोनों की ध्वनियों का दिग्दर्शन मात्र करावेंगे। पाणिनि के चौदह शिव-सूत्रों में बड़े सुंदर ढंग से परवर्ती साहित्यिक संस्कृत की ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उसका भाषा-वैज्ञानिक क्रम देखकर उसे घुणाक्षरन्यायेन बना कभी नहीं कहा जा सकता। उसमें भारतीय वैज्ञानिकों का तप निहित है। वे सूत्र ये हैं—

१—अइउण्	८—झभञ्
२—ऋऌक्	९—घढधष्
३—एओङ्	१०—जबगडदश्
४—ऐऔच्	११—खफछठथचटतव्
५—हयवरट्	१२—कपय्
६ - लण्	१३—शषसर्
७—ञमङणनम्	१४—हल्

पहले चार सूत्रों में स्वरों का परिगणन हुआ है। उनमें से भी पहले तीन में समानाक्षर गिनाए गए हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ॡ, ए, ओ—ये ग्यारहों वैदिक काल के समानाक्षर हैं; परवर्ती काल में अ का उच्चारण संवृत ʌ होने लगा था और ॠ तथा ॡ का प्रयोग कम और उच्चारण संदिग्ध हो चला था।

(२) चौथे सूत्र में दो संध्यक्षर आते हैं—ऐ, औ।

(३) पाँचवें और छठे सूत्रों में प्राण-ध्वनि ह और चार अंतःस्थ वर्णों का नामोद्देश मिलता है। अ, इ, उ, ऋ, ऌ के क्रमशः बराबरीवाले व्यंजन ह, य, व, र, ल हैं। स्वरों के समान ये पाँचों व्यंजन भी घोष होते हैं।

(४) सातवें सूत्र में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का वर्णन है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वर और व्यंजनों के बीच में

अंतस्थ और अनुनासिक व्यंजनों का आना सूचित करता है कि इतनी ध्वनि आन्तरिक भी हो सकती हैं।

(५) इसके बाद ८, ९, १०, ११ और १२ सूत्रों में २० स्पर्श-व्यंजनों का परिगणन है। उनमें भी पहले ८, ९, १० सूत्रों में घोषव्यंजनों का वर्णन है; उन घोष-स्पर्शों में से भी पहले महाप्राण घ, झ, ढ, ध, भ आते हैं तब अल्पप्राण ज, ब, ग, ड, द आते हैं। फिर ११ और १२ सूत्रों में अघोष स्पर्शों का वर्णन महाप्राण और अल्पप्राण के क्रम से हुआ है—ख, फ, छ, ठ, थ और क, च, ट, त, प।

(६) १३ और १४ सूत्र में अघोष सोष्म वर्णों का उल्लेख है—श, ष, स और ह। संस्कृत में ये ही घर्ष-व्यंजन हैं। इन्हें भी ऊष्मा कहते हैं। अंतिम सूत्र हल् ध्यान देने योग्य है। बीच में पाँचवें सूत्र में प्राण-ध्वनि ह की गणना की जा चुकी है। यह अंत में एक नया सूत्र रखकर अघोष तीन सोष्म ध्वनियों की ओर संकेत किया गया है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय ये तीन प्राण-ध्वनि ह के ही अघोष रूप हैं।

इस प्रकार इन सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं—पहले स्वर; फिर ऐसे व्यंजन जो स्वनंत स्वरों के समानधर्मा (corresponding) व्यंजन हैं; तब स्पर्श-व्यंजन और अंत में घर्ष-व्यंजन। आजकल के भाषा-वैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ॡ, ए, ओ, ऐ, औ।

(२) ह, य, व, र, ल, ङ, ञ, ण, न, म।

(३) क, ख, ग, घ; च, छ, ज, झ इत्यादि बीसों स्पर्श।

(४) श, ष, स, ह।

पाली ध्वनि-समूह

पाली में दस स्वर अ आ इ ई उ ऊ ऍ ए ऑ ओ पाए जाते हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ऋ के स्थान में अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ औ के स्थान में पाली में ए ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऍ ऑ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी किसी विभाषा में ह्रस्व ऍ ऑ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में तो उनका सर्वथा अभाव हो गया था (तेषां ह्रस्वाभावात्)। पाली के बाद ह्रस्व ऍ ऑ प्राकृत और अपभ्रंश में से होते हुए हिंदी में भी आ पहुँचे हैं। इसी से कुछ लोगों

की कल्पना है कि ह्रस्व ऍ ऑ सदा बोले जाते थे पर जिस प्रकार पाली और प्राकृत तथा हिंदी की साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणों में ह्रस्व ए ओ का वर्णन नहीं मिलता उसी प्रकार वैदिक और लौकिक संस्कृत के व्याकरणों में भी ऍ ऑ का ह्रस्व रूप नहीं गृहीत हुआ, पर वह उच्चारण में सदा से चला आ रहा है।

व्यंजन

पाली में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग नहीं होता। अंतिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—सावको, दुक्ख, पुनप्पुनम्।

अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था।

पाली में श, ष, स तीनों के स्थान में स का ही प्रयोग होता था। पर पश्चिमोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता है। परवर्ती काल की मध्यदेशीय प्राकृत में अर्थात् शौरसेनी में तो निश्चय से केवल स का प्रयोग होने लगा।

संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाए जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण-स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया था। पाली के काल में ही वर्त्स्य वर्ण अंतर्दंत्य हो गए थे। तालव्य स्पर्श-वर्ण उस काल में तालु-वर्त्स्य घर्ष-स्पर्श वर्ण हो गए थे। तालव्य व्यंजनों का यह उच्चारण पाली में प्रारंभ हो गया था और मध्य प्राकृतों के काल में जाकर निश्चित हो गया। अंत में किसी किसी आधुनिक देश-भाषा के प्रारंभ-काल में वे ही तालव्य च, ज दंत्य घर्ष-स्पर्श ts, dz और दंत्य ऊष्म स, ज़ हो गए।

प्राकृत ध्वनि-समूह

पाली के पीछे की प्राकृतों का ध्वनि-समूह प्रायः समान ही पाया जाता है। उसमें भी वे ही स्वर और व्यंजन पाए जाते हैं। विशेषकर शौरसेनी प्राकृत तो पाली से सभी बातों में मिलती है। उसमें पाली के ड़, ढ़ भी मिलते हैं। पर न और य शौरसेनी में नहीं मिलते। उनके स्थान में ण और ज हो जाते हैं।

अपभ्रंश का ध्वनि-समूह

अपभ्रंश काल में आकर भी ध्वनि-समूह में कोई विशेष अंतर नहीं देख पड़ता। शौरसेन अपभ्रंश की ध्वनियाँ प्रायः निम्नलिखित थीं—

स्वर

	पश्च	अग्र
संवृत		
ईषत्संवृत	ऊ, उ	ई, इ
	ओ, ओ	ए, ए
ईषद्विवृत	अ	
विवृत	आ	

व्यंजन

	काकल्य	कंठ्य	मूर्धन्य	तालव्य	तालु-वर्त्स्य	दंत्य	द्व्योष्ठ्य
स्पर्श		क, ग	ट ड			त द	प ब
सप्राण स्पर्श		ख, घ	ठ ढ			थ ध	फ भ
स्पर्श-घर्ष					च ज छ झ		
अनुनासिक		ङ	ण		ञ	न्ह, न	म्ह, म
पार्श्विक			ड़, ढ़		ल		
उत्क्षिप्त					र		
घर्ष अर्थात् सोष्म	ह					स	व, वँ
अर्ध स्वर				य			व

हिंदी ध्वनि-समूह

ये अपभ्रंश-काल की ध्वनियाँ १० स्वर और ३७ व्यंजन) सभी पुरानी हिंदी में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और औ (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिंदी में मिलता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आए थे वे सब तद्भव बन गए थे। अंत में आधुनिक हिंदी का काल आता है। उसमें स्वर तो वे ही पुरानी हिंदी के १२ स्वर हैं, पर व्यंजनों में वृद्धि हुई है। क़, ग़, ख़, ज़, फ़ के अतिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों में प्रयुक्त होने लगी हैं। केवल ऋ, ष, ञ् ऐसे व्यंजन हैं जो नागरी लिपि में हैं और संस्कृत तत्सम शब्दों में आते भी हैं पर वे हिंदी में शुद्ध उच्चरित नहीं होते; अतः उनका हिंदी में अभाव ही मानना चाहिए। इन हिंदी ध्वनियों का विवेचन पीछे हो चुका है।

हिंदी के ध्वनि-विकारों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिये उसकी पूर्ववर्ती सभी आर्य भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है। अभी जब तक इन सब भाषाओं का इस प्रकार का अध्ययन नहीं हुआ है तब तक यह किया जाता है कि संस्कृत की ध्वनियों से हिंदी की ध्वनियों की तुलना करके एक साधारण इतिहास बना लिया जाता है; क्योंकि संस्कृत प्राचीन काल की और हिंदी आधुनिक काल की प्रतिनिधि है। हिंदी-ध्वनियों का विचार तो तभी पूर्ण हो सकेगा जब मध्यकालीन भाषाओं का भी सुंदर अध्ययन हो जाय।*

रूप-विचार

जिस प्रकार हिंदी के ध्वनि-विचार का दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है उसी प्रकार रूप-विचार का वर्णन भी हम संक्षेप में ही दे सकेंगे।

हिंदी विभक्ति-प्रधान भाषा है अतः हिंदी का रूप-विचार विभक्तियों का विवेचन मात्र होगा। विभक्ति का विचार हिंदी की संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया में ही मुख्यतः होता है अतः इन्हीं तीनों का हम आगे विचार करेंगे।

---

* हिंदी के रूप-विकारों का थोड़ा और परिचय प्राप्त करने के लिये भाषा-रहस्य देखिए।

हिंदी के विद्वानों में विभक्तियों के संबंध में बहुत मतभेद है। कोई इन्हें प्रत्यय मानते हैं और इसी आधार पर इन्हें मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते हैं; परंतु दूसरों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों से उत्पन्न हुई हैं। जिस रूप में वे इस समय वर्त्तमान हैं, वह उनका संक्षिप्त रूप है। कुछ भी हो, हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

विभक्तियाँ

(१) **कर्त्ता**—कर्त्ता कारक की विभक्ति किसी आधुनिक आर्य भाषा में नहीं है। हिंदी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब कर्त्ता के साथ 'ने' विभक्ति लगती है। यह 'ने' विभक्ति पश्चिमी हिंदी का एक विशेष चिह्न है। पूर्वी हिंदी में इसका पूर्ण अभाव है। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है, जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता; इसलिये हम 'ने' को करण कारक का चिह्न नहीं मानते। करण कारक का चिह्न हिंदी में 'से' है। संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है। इसी 'इन' का वर्ण-विपरीत हिंदी रूप 'ने' है।

(२) **कर्म और संप्रदान कारक**—इन कारकों की विभक्ति हिंदी में 'को' है। इन दोनों कारकों के प्रयोग में स्पष्टता न होने के कारण प्रायः इनका परस्पर उलट-फेर हो जाता है। यह हिंदी के लिये नई बात नहीं है। करण, अपादान और अधिकरण कारकों में प्रायः उलट-फेर हिंदी की पूर्ववर्त्तीय भाषाओं में भी हो जाता है। संस्कृत में सात कारक हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण। पर सस्कृत वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। प्राकृतों में संप्रदान का प्रायः लोप हो गया है। साथ ही प्राकृतों में यह भी प्रवृत्ति देखी जाती है कि अन्य कारकों के स्थान में संबंध का प्रयोग होता है। इस प्रकार कारकों के केवल दो ही प्रत्यय अर्थात् कर्त्ता और संबंध के रह जाते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार एक कारक को कई का स्थानापन्न बनाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट देख पड़ती है। हेमचंद्र ने स्पष्ट लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध कारक के प्रत्यय से ही अपादान

और संबंध दोनों का बोध होता है। आधुनिक भाषाओं में शब्दों के दो रूप हो जाते हैं—एक कर्त्ता का अविकारी रूप और दूसरा अन्य कारकों में विकारी अर्थात् कारक-चिह्नग्राही रूप। इससे भिन्न भिन्न कारकों के प्रयोग में स्पष्टता हो जाती है; और इसे बनाए रखने के लिये आधुनिक भाषाओं में कारक-चिह्न-ग्राही रूपों में भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं परंतु प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में कारकों के लोप अथवा एक दूसरे में लीन हो जाने के कारण आधुनिक हिंदी में कर्म और संप्रदान तथा करण और अपादान कारकों की एक ही विभक्ति रह गई है।

बीम्स साहब का कथन है कि 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली है, जिसका विकार क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कक्खं, काँख, काहँ, काहूँ, काहुँ, कहूँ, कौं, कों और अंत में को। परंतु जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है उसमें, 'कक्षे' का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतः आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना करना उल्टी गंगा बहाना है। दूसरे लोग अम्हाकं, अम्हें, तुम्हाकं, तुम्हें, से हमको, हमें, तुमको, तुम्हें की उत्पत्ति मानकर इसी 'कं' या 'आकं' की और शब्दों में अतिव्याप्ति स्वीकार करते हैं।

संस्कृत की 'कृ' धातु से 'कृत' शब्द बनता है। इसका करण कारक का रूप 'कृतेन' और अधिकरण कारक का रूप 'कृते' होता है। ये दोनों कृतेन और कृते संप्रदान कारक का भाव प्रकट करते हैं; जैसे—देवदत्तस्य कृते = देवदत्त के लिये। हेमचंद्र अपने व्याकरण (४। ४२५) में लिखते हैं कि अपभ्रंश में 'केहिं' निपात (अव्यय) तादर्थ्य (= के लिये) में प्रयुक्त होता है जो संप्रदान कारक का अर्थ प्रकट करता है। संस्कृत के कृत से अपभ्रंश का 'कअ' होता है, जिसका करण बहुवचन या अधिकरण एक वचन रूप 'कअहिं' या 'कयहिं' होता है। हेमचंद्र जिस 'केहिं' का उल्लेख करते हैं, वह वास्तव में इसी 'कअहिं' या 'कयहिं' का विकृत रूप है। इसी 'केहिं' से आधुनिक भाषाओं की संप्रदान कारक की विभक्तियाँ किही, कै, कू, कौ, को, काहु, किनु, गे, खे, कु, के, का आदि बनी हैं। हिंदी में इस 'को' विभक्ति के रूप व्रजभाषा और अवधी में 'कहँ', काँ, के, कुँ, कूँ, कौं, कउँ और कें होते हैं। इन्हीं 'कहँ' 'कों' आदि से आधुनिक हिंदी की 'को' विभक्ति बनी है; अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के कृते या कृतेन शब्द से अपभ्रंश में

'केहि' होती हुई हिंदी में 'को' हो गई है। कुछ लोग अपभ्रंश के 'केहि' निपात को कर + हि के संयोग से बना हुआ मानते हैं, जो क्रमशः संबंध और संप्रदान कारक के प्रत्यय माने जाते हैं।

(३) करण और अपादान—हिंदी में इनकी विभक्ति 'से' है। दोनों कारकों की एक ही विभक्ति होने का ठीक कारण नहीं जान पड़ता। पाली में इन दोनों का बहुवचनांत रूप एक सा होता है। संभव है, इसी उपमान से इनमें अभेद कर लिया गया हो। अधिकांश विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति से बताते हैं। प्राचीन हिंदी में अपादान के लिये तें तथा सेंती और हुँत, हुँते आदि विभक्तियाँ भी आई हैं। यह 'सेंती' तो स्पष्ट सुंतो से निकली है और हुँत, हुँते प्राकृत की विभक्ति हिंतो से। से विभक्ति भी सुंतो से निकली हुई जान पड़ती है। चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' शब्द 'से' के अर्थ में आया है; जैसे—

कहै कंति सम कंत। (१—११)
कहि सनिकादिक इंद्र सम। (२—११०)
बलि लग्गौ जुध इंद्र सम। (२—२१८)

यह 'सम' संस्कृत के सह का पर्याय है और इसी से आगे चलकर 'सन' बना है जिसका प्रयोग अवधी में प्रायः मिलता है। अतएव बहुतों का मत है कि सम से सन तथा सन से सौं, सें और अंत में 'से' हो गया है। पर रासो में 'से', 'सम', 'हुँतो' आदि रूप का एक साथ मिलना यह सूचित करता है कि ये सब स्वतंत्र हैं; कोई किसी से निकला नहीं है।

(४) संबंध-कारक—इसकी विभक्ति 'का' है। वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध-कारक का संबंध होता है, उसे भेद्य कहते हैं; और भेद्य के संबंध से संबंध कारक को भेदक कहते हैं। जैसे—'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' भेदक और 'घोड़ा' भेद्य है। हिंदी में भेद्य इस विभक्ति का अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसके भी लिंग-वचन होते हैं। और सब विभक्तियाँ तो दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में एक सी रहती हैं, केवल संबंध-कारक की विभक्ति पुल्लिंग एकवचन में 'का', स्त्रीलिंग एकवचन में 'की', और स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों के बहुवचन में तथा पुल्लिंग भेद्य के कारक-

चिह्न-ग्राही रूप के पूर्व प्रयुज्यमान भेदक की 'के' होती है। इसका कारण यह है कि भेदक एक प्रकार से विशेषण होता है और विशेषण का विशेष्यनिघ्न होना स्वाभाविक ही है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति का विवेचन करना उचित होगा। इस विभक्ति की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में कई मत हैं, जो नीचे दिए जाते हैं।

(क) संस्कृत में संज्ञाओं में इक, ईन, ईय प्रत्यय लगने से तत्संबंधी विशेषण बनते हैं। जैसे, काय से कायिक, कुल से कुलीन, भारत से भारतीय। 'इक' से हिंदी में 'का', 'ईन' से गुजराती में 'नो' और 'ईय' से सिंधी में 'जो' तथा मराठी में 'चा' होता है।

(ख) प्रायः इसी तत्संबंधी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय "क" आता है; जैसे—मद्रक = मद्र देश का, रोमक = रोम देश का। प्राचीन हिंदी में 'का' के स्थान में 'क' पाया जाता है, जिससे यह जान पड़ता है कि हिंदी का 'का' संस्कृत के 'क' प्रत्यय से निकला है।

(ग) प्राकृत में 'इदं' (संबंध) अर्थ में 'केरओ' 'केरिअ' 'केरकं' 'केर' आदि प्रत्यय आते हैं, जो विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं और लिंग में विशेष्य के अनुसार बदलते हैं। जैसे कस्स केरकं एदं पवहणं (किसकी यह बहल है)। इन्हीं प्रत्ययों से पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिंदी के केरा, केरो आदि प्रत्यय निकले हैं जिनसे हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय बनते हैं। पर इन्हें प्रत्यय कहना उचित नहीं जान पड़ता। प्रत्यय जिस प्रकृति से लाया जाता है, वह निर्विभक्तिक होती है, उससे विभक्ति का लोप हो जाता है। परंतु यहाँ 'केरकं' के पहले 'कस्स' सविभक्तिक है। हेमचंद्र ने 'केर' प्रत्यय (२।१४७) और संबंधिवाचक 'केर' शब्द (४।४२२) दोनों का उल्लेख किया है। तुम्हकेरो, अम्हकेरो, तुज्झ बप्पकेरको (मृच्छक०) आदि में प्रयुक्त 'केर' को प्रत्यय और 'कस्स केरकं' के 'केर' को स्वतंत्र पद समझना चाहिए। हिंदी 'किसका' ठीक 'कस्स केरकं' से मिलता है। किस, 'कस्स' ही का विकार है। अतः 'किसका' में दुहरी विभक्ति की कल्पना करके चौंकना वृथा है।

(घ) प्राकृत इदमर्थ के क, इक, एच्चय आदि प्रत्ययों से ही रूपांतरित होकर आधुनिक हिंदी के 'का के, की' प्रत्यय हुए हैं।

(ङ) सर्वनामों के 'रा, रे, री' प्रत्यय केरा, केरो आदि प्रत्ययों के आद्य 'क' का लोप हो जाने से बने हैं।

यही भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ कुछ तथ्यांश प्रत्येक मत में जान पड़ता है, परंतु प्राकृत इदमर्थवाची केरओ, केरिअ, केरकं आदि से हिंदी की संबंध कारक की विभक्ति का निकलना [देखो ऊपर (ग)] अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। इस कृत का बोलचाल की प्राकृत में, जिसका स्वाभाविक रूप भास के नाटकों में रक्षित है, 'केरओ' होता है। मृच्छकटिक की पंडिताऊ प्राकृत में यही 'केरकं' के रूप में मिलता है। हेमचंद्र में यही 'केर' के रूप में मिलता है (दे०—संबंधिनि केरतणौ—हेमचंद्र) और उससे पहले धनपाल में यही 'केरा' 'केरी' के रूप में मिलता है। पृथ्वीराजरासो में भी यह 'केरो' 'केरी' है।

दौरे गज अंध चहुआन केरो। भिदी दृष्टि सें दृष्टि चहुआन केरी।

अक्षरों तथा भाषाओं के क्रमशः विकार और लोप होने से इससे अवधी के "केरा, केरी, केर, कै, क" रूप हुए—जैसे,

यह सब समुद बुंद जेहि केरा।—जायसी।
औ जमकात फिरै जम केरी।—जायसी।
हौं पंडितन केर पछलगा।—जायसी।
राम ते अधिक राम कर दासा।—तुलसी।
धनपति उहै जेहि क संसारा।—तुलसी।

पश्चिमी की 'का—के—की' विभक्तियाँ प्राकृत अपभ्रंशों से उतना मेल नहीं खातीं जितनी पूर्वी की देख पड़ती हैं। फिर भी 'केर' के 'र' के लोप हो जाने से 'के' का आविर्भाव सुगमता से हो जाता है, और जिस प्रकार पूर्वी का 'क' निकलता है उसी प्रकार खड़ी बोली का 'का, के, की', व्रज का 'कौ' और कन्नौजिया का 'को' भी निकल सकता है। पूर्व और पश्चिम की उच्चारण-भिन्नता भी इस भेद का कारण हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिमी ओकार-प्रियता रासो के 'केरो' और पूर्वी आकार-प्रियता जायसी के 'केरा' के लिये उत्तरदायी है।

डाक्टर भंडारकर ने 'कीय' से 'केर' के निकालने में रूपबाधा मानी है इसलिये वे 'कार्य' से इन रूपों को निकालते हैं, पर यदि विचार किया जाय तो इस व्युत्पत्ति में भी बाधा है। संबंध भूत वस्तु है और कार्य भविष्य। संबंध हो चुका होता है और कार्य होनेवाला होता है।

यदि 'कीय' से 'केर' की उत्पत्ति में रूप-बाधा थी तो 'कार्य' में अर्थ-बाधा उपस्थित होती है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है 'कृत' को मूल मानने से कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार का अर्थ-विपर्यय संस्कृत में भी बहुधा हुआ है, अतएव यहाँ भी उसके मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ये विद्वान् पूर्वी 'केरो, केर, कर, क' का 'कृत' से 'केरौ, करौ' होते हुए तथा पश्चिमी 'कौ' को, का, के, कु' को 'कृत' से 'कौ, किओ, किरौ' होते हुए मानते हैं। यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है। पर जैसा कि हम कह चुके हैं संगति 'कृत' से 'केरओ, केरिअ, केरक' आदि होते हुए इन रूपों को निकालने में ही बैठती है।

दूसरे विद्वानों का कहना है कि संबंध कारक की विभक्तियों में लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर होने के कारण यह स्पष्ट है कि ये विभक्तियाँ वास्तव में विशेषण थीं और प्रारंभ में इनमें कारकों के कारण विकार होता था। अतएव 'का' विभक्ति का पूर्व रूप भी विशेषण का सा ही रहा होगा। संस्कृत कृ धातु के कृदंत रूप कृतः का अपभ्रंश में केरा, किरो, किओ, को और कयो होता है। इन अपभ्रंश रूपों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) को, किओ, किरो।

(२) केरो, करो।

प्रथम श्रेणी के रूप स्पष्टतः संस्कृत के कृतः से निकले हैं। इसी का शौरसेनी अपभ्रंश रूप 'किरो' है। द्वितीय श्रेणी में केरो का प्रयोग तो अपभ्रंश में मिलता है, पर करो का नहीं मिलता। आधुनिक भाषाओं में इसके मिलने से यह मानना पड़ता है कि या तो इस रूप का प्रयोग था, अथवा यह केरो से विकृत होकर बना है। बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के कृतः से प्राकृत में करिओ हुआ जिससे केरो बना। कोई कोई प्राकृत के 'करिओ' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला हुआ मानते हैं। संभवतः इसका पुराना रूप 'करिद' न कि 'करिअ' हो सकता है; पर 'करिद' से 'केर' नहीं निकल सकता। यदि हम इसे 'कार्यः' से निकालते हैं, तो इसके अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। कृतः भूत कृदंत का रूप है और कार्यः भविष्य कृदंत का। भूत और भविष्य के भावों में बहुत भेद है; अतएव एक ही अर्थ के द्योतक शब्द

को दोनों से निकला हुआ मानना ठीक नहीं। पर संस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ का विपर्यय होता है। अतः केरो और करो को सं० कार्यः, प्रा० करिओ से निकला हुआ मानने में कोई अड़चन नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के प्राकृत प्रत्ययों से कौ, को, का, के, कु निकले हैं और दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों से केरो, कर, कर, क निकले हैं।

पर इन व्युत्पत्तियों का आधार अनुमान ही अनुमान है। अतः हम इनके परम मूल की गवेषणा छोड़कर केवल प्राकृत के 'केर' "क्क" प्रत्यय और अपभ्रंश के "केर" या 'केरक' शब्द से ही इनकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा है। जिस प्रकार 'बलीवर्द' के दो खंडों— बली और वर्द से क्रमशः बैल और बर्दा एवं 'द्वे' के दो खंडों द और वे से क्रमशः हिंदी 'दो' और गुजराती तथा पुरानी हिंदी 'बे' निकले हैं, वैसे ही 'केरक' से केर (पश्चिमी अवधी 'रामकेर', 'एर' (बँगला), 'क' (भोजपुरिया और पूर्वी अवधी) और 'का' का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य नहीं।

(५) **अधिकरण कारक**—हिंदी में इसका चिह्न 'में' है। यह संस्कृत के 'मध्ये' से निकला है। प्राकृत और अपभ्रंश में इसके मज्झे, मज्झि, मज्झहिं रूप होते हैं। इन्हीं रूपों से आधुनिक भाषाओं की विभक्तियों के दो प्रकार के रूप बन गए हैं—एक वह जिसमें झ बना हुआ है; और दूसरा वह जिसमें झ के स्थान में ह हो गया है। इन्हीं रूपों से मझि, माँझ, माहैं, माँहीं, माँही माह, महँ, माँ, मों और में रूप बने हैं। यह बीम्स तथा हार्नली का मत है।

वस्तुतः 'में' को पाली, प्राकृत के स्मि, म्हि, म्मि से ही उद्भूत मानना चाहिए। प्राकृत अथवा संस्कृत में जहाँ जहाँ 'मज्झहिं' या 'मध्ये' का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ उसके पूर्व में षष्ठी विभक्ति वर्तमान रहती है; अतः उसे मध्य शब्द का अर्थानुरोध से प्रयुक्त स्वतंत्र रूप ही समझना चाहिए, न कि अधिकरणता-बोधक विभक्ति। दूसरे 'पृथ्वीराजरासो' आदि प्राचीन हिंदी काव्यों में साथ ही साथ 'माझ' आदि तथा 'में' का प्रयोग देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि 'मध्य' से घिस घिसाकर 'में' उत्पन्न हुआ है। अतः 'म्मि' से ही 'में' निकला है, इसमें संशय नहीं। इसी 'म्मि' का केवल 'इ' अपभ्रंश में आता है। इसका सार यह निकला कि माझ, महँ आदि 'मध्य' और 'में', म्मि से व्युत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार हिंदी विभक्तियों की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों, विभक्तियों और प्रत्ययों से हुई है। यहाँ पर हम एक बात पर पुनः ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहले यह बात लिख चुके हैं कि भारतवर्ष की आधुनिक आर्यभाषाओं के दो मुख्य समुदाय हैं—एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग; और एक तीसरा समुदाय दोनों का मध्यवर्ती है। बहिरंग और अंतरंग समुदाय की भाषाओं में यह बड़ा भेद है कि पहली संयोगावस्था में है और दूसरी वियोगावस्था में. अर्थात् पहली के कारक रूप प्रायः प्रत्यय लगाकर बनते हैं और दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। जैसे—हिंदी में कारक रूप बनाने के लिये 'घोड़ा' संज्ञा के साथ विभक्ति लगाकर घोड़े का, घोड़े को आदि बनाते हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि ये 'का. को' आदि स्वतंत्र शब्द थे; पर क्रमशः अपनी स्वतंत्रता खोकर अब सहायक मात्र रह गए हैं। इसके विपरीत बँगला भाषा को लीजिए. जिसमें 'घोड़े का' के स्थान में 'घोड़ार' और 'घोड़े को' के स्थान में 'घोड़ारे' होता है। यहाँ र और रे प्रत्यय लगाकर कारक के रूप बनाए गए हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि एक अवस्था में स्वतंत्र शब्द सहायक बन जाने पर भी अपनी अलग स्थिति रखते हैं; और दूसरी अवस्था में वे प्रत्यय बनकर शब्दों के साथ मिलकर उसके अंग बन गए हैं।

प्रायः भाषाएँ अपने विकास की अवस्था में पहले वियोगात्मक होती हैं और क्रमशः विकसित होते होते संयोगात्मक हो जाती हैं। बहिरंग भाषाएँ भी आरंभ में वियोगात्मक अवस्था में थीं; पर क्रमशः विकसित होती हुई वे संयोगात्मक हो गईं। अर्थात् प्रथम अवस्था में शब्द अलग अलग रहते हैं; और दूसरी अवस्था में वे विकृत शब्दों के साथ मिलकर उनके अंग बन जाते हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो पहले केवल संग लगे रहते थे, वे अब अंग हो गए हैं। हम यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। परंतु ऐसा करने के पहले हम प्राकृत और अपभ्रंश के एक मुख्य नियम पर ध्यान दिला देना चाहते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कुछ व्यंजन, जिनमें क और त सम्मिलित हैं, जब किसी शब्द के बीच में दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तब उनका लोप हो जाता है। परंतु यदि वे किसी शब्द के आरंभ में आते हैं, तो उनका लोप नहीं

होता, चाहे उनके पूर्ववर्ती शब्द के अंत में स्वर हो और उनके पीछे भी स्वर हो; जैसे चलति का चलइ होता है। इस शब्द के स्वरों और व्यंजनों को अलग करने से ऐसा रूप होता है—च् + अ + ल् + अ + त् + इ। अब त् अक्षर अ और इ के बीच में आया है, इसलिये उसका लोप हो गया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—कामस्स तत्त (=कामस्य, तत्त्व)। इसमें तत्त के प्रथम त का लोप नहीं हुआ, यद्यपि कामस्स का अंतिम स अकारांत है और 'त' स्वयं भी अकारांत है। यहाँ इसका लोप इसलिये नहीं हुआ कि यह शब्द के आरंभ में आया है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि 'क' या 'त' का लोप तभी होता है, जब वह शब्द के बीच में आता है। शब्द के आरंभ में उसका लोप नहीं होता। अब हम किअअ, कर, करौ और तनौ इन तीन प्राचीन शब्दों को लेते हैं जो संबंध कारक के प्रत्यय बन गए हैं। हिंदी 'घोड़े का' 'घोड़हि कअअ' से बना है। यहाँ इस कअअ के क का लोप नहीं हुआ और वह आधुनिक 'का' रूप में 'क' सहित वर्तमान है। अतएव यह 'का' का 'क' एक स्वतंत्र शब्द का आरंभिक अक्षर है, जो घोड़े के साथ मिलकर एक नहीं हो गया है। इसलिये यह कारक चिह्न के रूप में वर्तमान है और व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय नहीं बन गया है। अब बँगला का 'घोड़ार' लीजिए जिसका अपभ्रंश रूप 'घोड़अ-कर' है। इसमें 'कर' का केवल 'अर' रह गया है। यहाँ आरंभिक 'क' का लोप हो गया है। यह 'क' मध्यस्थ होकर लुप्त हुआ है; इसलिये यह स्वतंत्र न रहकर घोड़ा शब्द में लीन हो गया है। यहाँ यह कारकचिह्न न रहकर प्रत्यय बन गया है। बहिरंग भाषाओं में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं; पर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं; अतः उनके कारकों के सूचक सहायक शब्द उनके अंग बनकर उनसे संयुक्त हो गए हैं; और अंतरंग भाषाओं में, उनकी वियोगावस्था में रहने के कारण, वे वियुक्त रहे हैं। इस अवस्था में हिंदी के संज्ञा-कारकों की विभक्तियों को शब्दों से अलग रखना उनके इतिहास से सर्वथा अनुमोदित होता है। इस संबंध में जानने की दूसरी बात यह है कि अंतरंग भाषाओं में कारक चिह्न या विभक्ति लगने के पूर्व शब्दों में वचन आदि के कारण विकार हो जाता है; पर बहिरंग भाषाओं में प्रत्यय लग जाने पर इन्हीं कारणों से विकार

नहीं होता। यहाँ एक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाए रखता है और दूसरा अपना अस्तित्व सर्वथा खो देता है।

यह उपर्युक्त विचार हमने ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार किया है। जिस प्रकार अतरंग-बहिरंग भेद के प्रयोजक अन्य कारणों का दौर्बल्य हम पहले दिखा चुके हैं, उसी प्रकार संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्बल ही है। अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भाषाओं में संयोगावस्थापन्न रूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है, किसी में कोई। पश्चिमी हिंदी और अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक चिह्नों के पूर्व विकारी रूप ही प्रयोग में आते हैं; जैसे—'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह 'घोड़े' घोड़हि (= घोटस्य अथवा घोटक + तृतीया बहुवचन विभक्ति 'हि' = भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अंतरंग मानी गई भाषा का है। इसके विपरीत बहिरंग मानी गई बँगला का 'घोड़ार' और बिहारी का "घोराक" रूप संयोगावस्थापन्न नहीं किंतु घोटक + कर और घोटक + क, - क से घिस घिसाकर बना हुआ संमिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी गई जिस पश्चिमी हिंदी में वियोगावस्थापन्न रूप ही मिलने चाहिएँ, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों ही के द्वारा होना चाहिए, उसी में प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाए जाते हैं जो नितांत संयोगावस्थापन्न हैं; अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण लीजिए—

कर्त्ता एकवचन—घोड़ो (व्रज०) घोड़ा (खड़ी बोली) घरु (व्रज० नपुंसक लिंग)

कर्त्ता बहुवचन—घोड़े (∠ घोड़ेइ ∠ घोड़हि = तृतीया बहुवचन, 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आँखों (∠ अक्खिहिं, खुसुरू वाको आँखों दीठा—अमीर खुसरो) कानों (∠ कण्णहि)।

करण (-कर्त्ता) मैं (ढोला मइं तुहुँ वारिआ; मैं सुन्यौ साहि बिन अंधि कीन—पृथ्वी०) तैं, मैंने, तैंने (दुहरी विभक्ति)।

अधिकरण एकवचन—घरे, आगे, हिंडोरे (बिहारीलाल), माथे (सूरदास)।

अपादान एकवचन भुक्खा (=भूख से, बाँगडू) भूखन, भूखों (व्रज०, कन्नौजी)।

दूसरे बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिंदी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है—घोड़े दा (=घोड़े का), घोड़े नें, घोड़े नूँ इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में पश्चिमी हिंदी से बढ़कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती; अतः उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है।

अब हम हिंदी के सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। इनमें विशेषता यह है कि इनमें से कुछ तो संयोगावस्था में हैं और कुछ वियोगावस्था में। एक एक सर्वनाम को लेकर हम इस संबंध में विवेचन करेंगे।

सर्वनाम

(१) मैं, हम—संस्कृत के अस्मद् शब्द का करण कारक का रूप संस्कृत में 'मया', प्राकृत में 'मइ' और अपभ्रंश में 'मइँ' होता है, जिससे हिंदी का 'मैं' शब्द बना है। संस्कृत के अस्मद् शब्द के कर्ता कारक का रूप संस्कृत में अहं, प्राकृत में 'अम्हि' और अपभ्रंश में 'हउँ' होता है, जिससे हिंदी का 'हौं' शब्द बना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता का हौं (=मैं) प्रथमा का परंपरागत रूप है और आधुनिक 'मैं' तृतीया से बना है। बहुवचन में संस्कृत के 'वयं' का रूप लुप्त हो गया है, यद्यपि प्राकृत में वयं का वअं और पाली में मयं रूप मिलता है। पर अपभ्रंश में यह रूप नहीं देख पड़ता। बहुवचन में प्राकृत में, अम्हें, अम्हो और अपभ्रंश में अम्हइँ, अम्हेइँ आदि रूप मिलते हैं। अ का लोप होकर और म—ह में विपर्यय होकर 'हम' रूप बन गया है। मार्कंडेय ने अपने प्राकृतसर्वस्व के १७वें पाद के ४८वें सूत्र में अस्मद् के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है। परंतु उन्होंने यह रूप एकवचन में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के लिये इस प्रकार का वचन-व्यत्यय कोई नई बात नहीं। कारकग्राही या विकारी रूपों में हिंदी में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक में हिंदी की विभक्ति लगती है और दूसरे में नहीं लगती। जैसे—कर्म कारक में मुझे और मुझको, हमें

और हमको दोनों रूप होते हैं, पर अन्य कारकों में 'मुझ' के साथ विभक्ति अवश्य लगती है। मुज्झ और मुज्झे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में मिलते हैं, जिनसे हिंदी का मुझ रूप बना है। संबंध कारक में कृतः के केरौ, करौ रूपों के आरंभिक क के लुप्त हो जाने से रो या रा अंश बच रहा है, जो कई भाषाओं में अब तक षष्ठी विभक्ति का काम देता है। इस 'रा' प्रत्यय के 'मे' में लगाने से 'मेरा' रूप बनता है और इसके अनुकरण पर बहुवचन का रूप बनता है। सारांश यह है कि अस्मद् से प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा होते हुए ये सब रूप बने हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कारकग्राहीरूपों में मुज्झ रूप स्वयं कारक-प्रत्यय सहित है; पर हिंदी में इस बात को भूलकर उसमें पुनः विभक्तियाँ लगाई गई हैं।

(२) तू, तुम, आप—इनमें से तू और तुम रूप युष्मद् से बने हैं। संस्कृत के युष्मद् शब्द का कर्ता एकवचन रूप प्राकृत में तुं, तुमं, और अपभ्रंश में तुह होता है, जिससे तू या तूँ और तुम बने हैं। इसी प्रकार कारकग्राही रूप भी प्राकृत और अपभ्रंश के तुज्झ के रूप से बने हैं। 'आप' रूप संस्कृत के आत्मन् शब्द से निकला है, जिसका प्राकृत अप्पा और अपभ्रंश रूप अप्पण होता है; और जो इसी अथवा अप्पन, अपन आदि रूपों में राजपूताने तथा मध्य प्रदेश आदि में अब तक प्रचलित है। शेष सब बातें मैं और हम के समान ही हैं।

(३) यह—संस्कृत के एतद् शब्द के कर्ता का एकवचन एषः होता है, जिसका प्राकृत में एसो और अपभ्रंश में एहो होता है। इसी से 'यह' के भिन्न भिन्न रूप जैसे—ई, यू, ए, एह आदि बने हैं। इस 'यह' का बहुवचन ये होता है, जो इस एतद् शब्द के अपभ्रंश रूप 'एइ' से बना है। कुछ लोग इसे संस्कृत 'इदम्' से भी निकालते हैं, जिसका प्राकृत रूप अयं और अपभ्रंश 'आअ' होता है। इसका कारक-चिह्न-ग्राही रूप एतद् के प्राकृत रूप ऐसो, एस, एअस्स और अपभ्रंश 'एइसु' अथवा 'इदम्' के प्राकृत रूप अस्स और अपभ्रंश 'अयसु' से निकला है। संबंध कारक का रूप भी इसी कारक-चिह्न-ग्राही रूप के अनुसार होता है; केवल विभक्ति ऊपर से लगती है। सर्वनामों में यह विचित्रता है कि उनका संबंध कारक का रूप संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के षष्ठ्यंत रूप से

बनता है। पर इसमें कारक प्रत्यय का समावेश शब्द में हो जाता है और पुनः विभक्ति लगती है।

(४) **वह, वे**— संस्कृत के अदस् शब्द से निकले हैं जिनका प्राकृत रूप 'अह' 'अमू' और अपभ्रंश रूप 'ओइ' (बहुवचन) होता है जिससे अ, वै, ओ, वौ, वह, उह आदि रूप बने हैं। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप प्राकृत 'अमुस्स' से निकला है।

(५) **सो, ते**—ये संस्कृत सः, प्राकृत सो, अपभ्रंश सो से निकले हैं। बहुवचन संस्कृत का 'ते' है ही। कारक-चिह्न-ग्राही तथा संबंध कारक का रूप संस्कृत तस्य, प्राकृत तस्स, तास, अपभ्रंश तासु, तसु से बना है।

(६) **जो**—संस्कृत यः, प्राकृत जो, अपभ्रंश जु। 'जो' प्राकृत से सीधा आया है। संबंध का विकारी रूप यस्य, जस्स—जासु, जासु जसु—से निकला है।

(७) **कौन**—संस्कृत कः, प्राकृत को, अपभ्रंश कवणु से बना है; और **किस**—संस्कृत कस्य, प्राकृत कस्स, कास, अपभ्रंश कासु से निकला है।

(८) **क्या**—संस्कृत किम्, अपभ्रंश काइँ और काहि प्राकृत के अपादान कारक रूप 'काहे' से सीधा आया है।

(९) **कोई**—संस्कृत कोऽपि, प्राकृत कोवि, अपभ्रंश कोबि अथवा को + हि के 'ह' के लोप हो जाने से बना है; और किसी-कस्य, कस्स, कासु + ही (सं० हि) से व्युत्पन्न है।

इन सब सर्वनामों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विशेषता है कि इन सबका विकारी रूप षष्ठी या कहीं कहीं सप्तमी के रूप से बना है और उनके आदि कारक प्रत्यय उनके साथ में लगे हुए रहकर भी आधुनिक भाषाओं में आकर अपने व्यपार से च्युत हो गए हैं; इसलिए नई विभक्तियाँ लगाकर उन्हें कार्यकारी बनाया गया है। सबके बहुवचन एक ही प्रकार से 'न' या 'न्ह' से बने हैं। ये सब रूप एक ही ढँग से बने हैं। इनका कोई अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है; सब एक ही साँचे में ढले हैं।

आधुनिक हिंदी में वास्तविक तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का बहुत कुछ लोप हो गया है। ब्रजभाषा और अवधी में तो इनके रूप मिलते हैं, पर खड़ी बोली में यह बात नहीं रह रह गई है। हाँ, आज्ञा या विधि की क्रियाएँ अवश्य इसमें भी शुद्ध साध्यावस्थापन्न हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं होता। अब हिंदी में अधिकांश क्रियाएँ दो प्रकार से बनती हैं—एक तो 'है'

क्रियाएँ

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	ब्रज-भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकवचन						
उ० पु०	चलामि	चलामि	चलउँ	चलौ	चलौ	चलता हूँ
म० पु०	चलसि	चलसि	चलहि चलइ	चलै	चलै	चलता है
अ० पु०	चलति	चलइ	चलहिं, चलइ	चलै	चलै	चलता है
बहुवचन						
उ० पु०	चलामः	चलमो	चलहुँ, चलिहुँ	चलै	चलै	चलते हैं
म० पु०	चलथ	चलह	चलहुँ	चलौ	चलहु	चलते हैं
अ० पु०	चलंति	चलंति	चलहि, चलइ	चलै	चलै	चलते हैं

की सहायता से और दूसरे भूतकालिक कृदंत के रूपों से। 'है' पहले वास्तविक क्रिया थी और अब भी 'रहना' के अर्थ में उसका

प्रयोग होता है; जैसे—'वह है'। पर इसका अधिकतर कार्य दूसरी क्रियाओं की सहायता करके उनके भिन्न भिन्न रूप बनाना तथा कालों की व्यवस्था करना है जैसे—'वह जाता है', 'मैं गया था' इत्यादि। पृष्ठ १४८ में व्रजभाषा और अवधी के उदाहरण देकर हम यह दिखलाते हैं कि कैसे उन दोनों भाषाओं में पहले स्वतंत्र क्रियाएँ थीं और अब उनका लोप हो जाने पर उनका स्थान कृदंत क्रियाओं ने ग्रहण कर लिया है और उनका कार्य सहायक क्रिया 'है' के द्वारा संपादित होता है।

इन उदाहरणों में वर्त्तमान काल के 'चलता', 'चलती' आदि क्रियांश वर्त्तमानकालिक धातुज विशेषण हैं। सं० चलन् (चलंत) चलंती आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। इनको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले 'है' का भाव क्रियाओं में ही सम्मिलित था, पर पीछे से खड़ी बोली में ये क्रियाएँ कृदंत रूप में आ गईं और भिन्न भिन्न पुरुषों, वचनों, कालों, प्रयोगों आदि का रूप सूचित करने के लिये 'है' के रूप साथ में लगाए जाने लगे। यही व्यवस्था भविष्यत् काल की भी है। हाँ, उसमें भेद यह है कि व्रजभाषा में उसके दोनों रूप मिलते हैं, पर अवधी तथा खड़ी बोली में एक ही रूप मिलता है। यह बात भी पृष्ठ १५० में दिए हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है।

भूतकाल के रूप सबसे विचित्र हैं। ये सब संस्कृत के कृदंतों से बने हैं; जैसे—संस्कृत चलितः, प्राकृत चलिओ, अपभ्रंश चलिअ से 'चला' बना है। कृदंत होने के कारण ये विशेषणवत् प्रयुक्त होते हैं; इसलिये इनके रूपों में लिंग और वचन के कारण विकार होता है; उदाहरणार्थ पृष्ठ १५१ का कोष्ठक देखिए।

उक्त कोष्ठक के उदाहरण साधारण भूतकाल के हैं। पर यहाँ यह जान लेना उचित है कि इनका प्रयोग तीन प्रकार से होता है—कर्तरि, कर्मणि और भावे। संस्कृत में 'स चलितः', प्राकृत में 'सो चलिओ', अपभ्रंश में 'सो चलिअ' हुआ, जिससे हिंदी का 'वह चला' बना। यहाँ 'वह' कर्त्ता है और 'चला' कृदंतक्रिया है। कर्त्ता के अनुशासन में क्रिया के होने से इसका लिंग और वचन कर्त्ता के अनुसार होता है; जैसे—वह चली, वे चलीं। इस प्रकार के प्रयोग को कर्तरि प्रयोग कहते हैं। परंतु यदि क्रिया सकर्मक होती है, तो वहाँ कर्मणि प्रयोग होता है। संस्कृत में 'स मारितः' का अर्थ 'स चलितः' के समान यह नहीं होता कि 'उसने

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	ब्रजभाषा	अवधी	खड़ी बोली
एक०						
उ० पु०	चलिष्यामि	चलिस्सामि, चलिहिमि	चलिस्सउँ, चलिहिउँ	चलिहउँ चलूँगो	चलिहउँ	चलूँगा
म० पु०	चलिष्यसि	चलिस्ससि, चलिहिसि	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
अ० पु०	चलिष्यति	चलिसइ चलिहिइ	चलिस्सहि, चलिसइ चलिहिहि, चलिहइ	चलिहै, चलैगो	चलिहहि	चलेगा
बहु०						
उ० पु०	चलिष्यामः	चलिस्सामो चलिहिमो	चलिस्सहुँ चलिहिउँ	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे
म० पु०	चलिष्यथ	चलिस्सह, चलिहिह	चलिस्सहु, चलिहिहु	चलिहौ, चलैंगे	चलिहौ	चलोगे
अ० पु०	चलिष्यंति	चलिस्संति, चलिहिंति	चलिस्सहिं चलिहहिं	चलिहैं, चलैंगे	चलिहहिं	चलेंगे

मारा', वरन् उसका अर्थ होता है—'वह मारा गया'। यदि हम यह कहना चाहें कि 'उसने उसको मारा' तो हमें 'तेन सः मारितः' कहना होगा। यहाँ क्रिया का अनुशासन 'तेन' से न होकर 'सः' से होता है। इसी प्रकार 'वह मार्‌यो' का अर्थ 'सः मारितः' के समान होगा। परंतु यदि 'उसने मारा' कहना होगा, तो 'वाने मार्‌यो' कहा जायगा। फिर 'वाने मानुस मार्‍यो' 'वाने स्त्री मारी' इस प्रकार के प्रयोग होंगे। अतएव यहाँ भी क्रिया का अनुशासन कर्ता नहीं वरन् कर्म करता है। इस प्रकार के प्रयोगों को कर्मणि प्रयोग कहते हैं। परंतु जहाँ कर्म के साथ 'को' विभक्ति लगा दी जाती है, वहाँ क्रिया स्वतंत्र हो जाती है। जैसे—उसने लड़की को मारा। ऐसे प्रयोग भावे प्रयोग कहलाते हैं। सकर्मक क्रियाओं के साथ या तो कर्मणि या भावे प्रयोग होता है और अकर्मक क्रियाओं के साथ कर्तरि प्रयोग। वर्तमान और भविष्य कृदंतों में केवल कर्तरि प्रयोग होता है।

पुरुष	ब्रजभाषा		अवधी		खड़ी बोली	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
एकवचन						
उ० पु०	चल्यो	चली	चलेउँ (चल्यों)	चलिउँ	चला	चली
म० पु०	,,	,,	चलिस, चले (चल्या)	चलिसि, चली	चले	चली
अ० पु०	,,	,,	चला	चली	चला	चली
बहुवचन						
उ० पु०	चले	चलीं	चलेन्हि	चलीं	चले	चलीं
म० पु०	चले	,,	चलेहु, (चल्यो)	चलिहु, चलिउ	चले	चलीं
अ० पु०	चले	,,	चलेन्हि	चलो	चले	चलीं

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी में कृदंत क्रियाओं का बहुत प्रयोग होता है। इन्हीं से तीनों कालों के रूप बनते हैं और 'है' के रूपों

को सहायक बनाकर वर्त्तमान काल और भूत काल में उनका व्यापार स्पष्ट किया जाता है जैसे—चलता है, चला है, चला था, चलता था। अतएव 'है' क्रिया हिंदी के भूत और वर्त्तमान कालों को सूचित करने के लिये नितांत आवश्यक है।

यह 'है' कहाँ से आया, अब इसका संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

(१) 'है' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई जाती है—एक तो 'भू' धातु से और दूसरी 'अस्' धातु से। 'भू' का प्राकृत अपभ्रंश में 'हो' होता है; जैसे—भवति का हवइ, हवेइ, होइ आदि। पर अस् का 'अच्छ' तो होता है, 'अह' नहीं होता। प्राकृतों में थ और ध का तो ह में परिवर्तन हो जाता है; पर स का ह होना नहीं मिलता। साथ ही हिंदी में अहैं, अहेउँ, अहेस, अहो आदि रूप भी मिलते हैं, जो भू, हुव, हुअ से तब तक बने नहीं ज्ञान पड़ते, जब तक यह न मान लिया जाय कि हुअ में अ का विपर्यय हो गया है अथवा उसका आगम हुआ है। इस अवस्था में यही मान लेना चाहिए कि भू से आधुनिक हिंदी के 'हो' धातु से ही ये भिन्न भिन्न रूप बने हैं। अथवा जिस प्रकार 'करिष्यति' से > करिस्सदि > करिसइ > करिहइ > करिहै बनने में 'स' का 'ह' हो गया है, उसी प्रकार 'अस्' के 'स' का 'ह' होना मानकर भी इन रूपों की सिद्धि कर सकते हैं।

(२) 'था' के विषय में भी विद्वानों में दो मत हैं। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति स्था धातु से मानते हैं, जिसका प्राकृत और अपभ्रंश में ठा या था रूप हो जाता है। हमारी हिंदी में भी 'स्थान' का 'थान' रूप बनता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह अस् धातु के 'स्थ' रूप से बना है। हमें पहला मत ठीक जान पड़ता है। 'स्था' धातु का सामान्य भूत (लुङ्) में "अस्थात्" रूप होता है। उससे उसी काल का 'था' रूप बड़ी सुगमता से व्युत्पन्न हो सकता है। दूसरा मत इसलिये ठीक नहीं है कि "स्थ" वर्त्तमान काल के मध्यम पुरुष का बहुवचन है। उससे भूतकालिक एकवचन 'था' की उत्पत्ति मानना द्रविड़ प्राणायाम करना है।

(३) गा—संस्कृत के गम् धातु का कृदंत रूप गतः होता है। इसका प्राकृत गओ या गअ होता है। इसी ग + अ = गा से भविष्यत्

काल का चिह्न 'गा' बनता है। 'चलेगा' में 'गा' की क्या करतूत है, सो देखिए। 'चलिष्यति' चलिस्सदि > चलिस्सइ > चलिहइ > चलिहइ > चलिहि > चलिइ > चली (भोजपुरिया) रूप भी बनता है और चलि > चले भी बनता है। यह पिछला 'चले' यद्यपि स्वयं भविष्यत् काल का बोधक है, तथापि इतना घिस गया है कि पहचाना तक नहीं जाता। अतः उसमें 'गा' जोड़कर उसे और व्यक्त बनाते हैं। इस अवस्था में इसका अक्षरार्थ यही हो सकता है कि 'चलने के निमित्त गया।'

अर्थ-विचार

यदि हिंदी शब्दों के अर्थों का इतिहास देखा जाय तो बड़ी मनोरंजक कहानी प्रस्तुत हो सकती है। आज भी न जाने कितने शब्द भारोपीय तथा अति प्राचीन वैदिक काल का स्मरण करा देते हैं, पर अब उनके अर्थों में बड़ा अंतर आ गया है। एक धर्म शब्द ही लिया जाय तो वह वेद से लेकर आज तक अनेक अर्थों में प्रयुक्त हो चुका है और वर्तमान हिंदी में उसका अर्थ रह गया है मजहब, रिलीजन (religion) अथवा संप्रदाय।

यदि समास और वाक्य-रचना आदि का विकास देखा जाय तो संस्कृत के काल से लेकर आज तक बड़े परिवर्तन हुए हैं। हिंदी के शब्द-भांडार पर ही नहीं समास-रचना, वाक्य-रचना आदि पर भी विदेशी प्रभाव पड़ा है। अतः यहाँ हम हिंदी अर्थ-विचार का उचित विवेचन न कर सकने पर भी विद्यार्थी का ध्यान उस अंग की ओर खींचना आवश्यक समझते हैं क्योंकि भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन पूर्ण और सांग बनाने के लिये अर्थ-विचार भी आवश्यक होता है।

जैसा हम आरंभ में कह चुके हैं, हमारे इस अध्याय के तीन भाग हो सकते हैं। पहले भाग में हमने ध्वनि-शिक्षा के आधार पर ध्वनियों का इतिहास प्रस्तुत किया है। दूसरे भाग में व्याकरण में दिए हुए रूपों के आधार पर रूपों का विचार हुआ है। अब इस तीसरे भाग में शब्द-कोश के आधार पर शब्दों के अर्थों का वर्गीकरण तथा विवेचन होगा। इस प्रकार पहले हम ध्वनियों का विचार करते हैं, फिर वे ध्वनियाँ जिन रूपों में प्रयुक्त होती हैं उन पर हम विचार करते हैं और अंत में उन निष्पन्न और प्रयुक्त शब्दों में भरे हुए अर्थों का विचार किया जाता है।

ध्वनियों की गणना होती है, रूपों का भी व्याकरण में प्रायः परिगणन हो जाता है पर शब्द-भांडार तो बड़ा विशाल और वास्तव में गणनातीत होता है। भांडार न कहकर उसे तो सागर कहना चाहिए। और यदि शब्दसागर के सभी शब्दों का वर्गीकरण, विवेचन और व्युत्पत्ति देने लगें तब तो न जाने कितने हजार पृष्ठ लिखे जाने पर भी प्रकरण पूरा न होगा। हिंदी भाषा का इस प्रकार का अर्थ-विचार अपेक्षित है। तथापि अभी यहाँ पर तो हम इने गिने उदाहरण लेकर अपना काम चलावेंगे।

शब्द के तीन भेद

अर्थ के विचार से शब्दों के तीन प्रकार होते हैं—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे सीधे कहनेवाला वाचक कहलाता है। लक्षण अथवा लाक्षणिक शब्द बात को लखा भर देता है, अभिप्रेत अर्थ को लक्षित मात्र करता है; और व्यंजक शब्द (मुख्य अथवा लक्ष्य अर्थ के अतिरिक्त) एक तीसरी बात की व्यंजना करता है; उससे प्रकरण, देश, काल आदि के अनुसार एक अनोखी ध्वनि निकलती है। उदाहरणार्थ यह मेरा घर है—इस वाक्य में घर शब्द वाचक है, अपने प्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर सारा घर खेल देखने गया है—इस वाक्य में 'घर' उसमें रहनेवालों का लक्षक है अर्थात् यहाँ घर शब्द लाक्षणिक है। और यदि कोई अपने आफिसर मित्र से बात करते करते कह उठता है, 'यह घर है, खुलकर बातें करो' तब 'घर' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि यह आफिस नहीं है। यहाँ घर शब्द व्यंजक है।

शक्ति

इन सभी प्रकार के शब्दों का अपने अपने अर्थ से एक संबंध रहता है। उसी संबंध के बल से प्रत्येक शब्द अपने अपने अर्थ का बोध कराता है। बिना संबंध का शब्द अर्थहीन होता है—उसमें किसी भी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। संबंध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमें शक्ति का संचार करता है। संबंध की शक्ति से ही शब्द इस अर्थ-मय जगत् का शासन करता है, लोकेच्छा का संकेत पाकर चाहे जिस अर्थ को अपना लेता है, चाहे जिस अर्थ को छोड़ देता है। इसी संबंध-शक्ति के घटने-बढ़ने से उसके अर्थ की ह्रास-वृद्धि होती है। इसी संबंध के भाव अथवा अभाव से उसका जन्म अथवा मरण होता है। अर्थात् संबंध ही

शब्द की शक्ति है, संबंध ही शब्द का प्राण है। इसी से शब्द तत्त्व के जानकारों ने कहा है 'शब्दार्थसंबंधः शक्तिः'—शब्द और अर्थ के संबंध का नाम शक्ति है।

शक्ति और अर्थ

जिस प्रकार शब्द तीन प्रकार के होते हैं उसी प्रकार शक्ति और अर्थ के भी तीन तीन भेद होते हैं। (१) वाचक शब्द की शक्ति अभिधा कहलाती है और उसके अर्थ को अभिधेयार्थ, सामान्य अर्थ, वाच्य अर्थ अथवा मुख्य अर्थ कहते हैं। (२) लक्षक शब्द की शक्ति लक्षणा कहलाती है और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ, औपचारिक अथवा आलंकारिक अर्थ कहते हैं। (३) व्यंजन शब्द की शक्ति व्यंजना कहलाती है और उसके अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार शब्द, शब्दशक्ति और शब्दार्थ को समझ लेने पर एक बात पहले ध्यान में रखकर तब आगे बढ़ना चाहिए। वह यह है कि साहित्यिकों और भाषा-वैज्ञानिकों की अध्ययन-प्रणाली में थोड़ा अंतर होता है। साहित्यिक लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों की ओर विशेष ध्यान देता है और भाषा-वैज्ञानिक अभिधा की ओर। भाषा-वैज्ञानिक प्रयोग की व्याख्या नहीं करता और न उसके रस की मीमांसा करता है। वह तो कोष में गृहीत अर्थों को लेकर अपना ऐतिहासिक विवेचन शुरू कर देता है। आगे चलकर जब आवश्यकता पड़ती है तब वह रुक जाता है और इस पर विचार करता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ पहले किन (लक्षणा, व्यंजना आदि) शक्तियों की कृपा से विकसित हुआ है। इस प्रकार उसे प्रारंभ में और अपने नित्य के अध्ययन में कोष के अभिधेयार्थ से ही काम पड़ता है। यद्यपि कोष में लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थ भी दिए रहते हैं पर शास्त्र और व्यवहार दोनों के विचार से लक्षणा और व्यंजना का प्रभाव तो प्रयोग में ही स्पष्ट होता है, कोष में नहीं। सच पूछा जाय तो जो अर्थ कोष में लिख जाता है उसमें केवल अभिधा शक्ति ही रह जाती है। यह बात विचार करने पर सहज ही समझ में आ जाती है। अतः हम लक्षणा, व्यंजना की अधिक चर्चा यहाँ न करके अभिधा से ही प्रारंभ करते हैं।

कुछ लोग अभिधा को ही शब्द की वास्तविक शक्ति समझते हैं। इस अभिधा शक्ति के तीन सामान्य भेद होते हैं। रूढ़ि, योग और योग-रूढ़ि। इसी शक्ति-भेद के अनुसार शब्द और अर्थ भी रूढ़,यौगिक अथवा

योगरूढ़ होते हैं। मणि, नूपुर, गौ, हरिण आदि शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं हो सकती रूढ़ कहलाते हैं। इन शब्दों में रूढ़ि की शक्ति व्यापार करती है, और जिन शब्दों की शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा व्युत्पत्ति की जा सकती है वे यौगिक कहलाते हैं। जैसे याचक, सेवक आदि शब्द यौगिक हैं, क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनकी व्युत्पत्ति तो की जाती है पर व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ से मेल नहीं खाता। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। पंकज का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पंक से उत्पन्न होनेवाला, पर अब वह शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है।

अभिधा के तीन भेद

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो केवल धातुएँ ही रूढ़ कही जा सकती हैं। चंद्रालोक के कर्ता जयदेव ने भी धातुओं को ही निर्योग माना है। धातु के अतिरिक्त अन्य शब्दों को रूढ़ मानना अज्ञान की स्वीकृति मात्र है। सभी शब्दों की उत्पत्ति धातु और प्रत्यय के योग से होती है। जिन शब्दों की उत्पत्ति अज्ञात रहती है उन्हें व्यवहारानुरोध से रूढ़ मान लिया जाता है। वास्तव में वे 'अव्यक्त योग' मात्र हैं, उनके योगार्थ का हमें ज्ञान नहीं है। अतः धातु में हम शब्द की निर्योग और रूढ़ अवस्था का दर्शन करते हैं। दूसरी अवस्था में धातु से प्रत्यय का योग होता है और यौगिक शब्द सामने आता है।

रूढ़ि, योग तथा योगरूढ़ि पर भाषा-वैज्ञानिक विचार

संस्कृत व्याकरण की वृत्तियाँ इस अवस्था का सुंदर निदर्शन कराती हैं। पहले धातु से कृत् प्रत्यय लगता है, जैसे पच् धातु से पाचक बनता है। फिर धातुज शब्द से तद्धित प्रत्यय लगता है तो पाचकता आदि शब्द बन जाते हैं। इन दोनों प्रकार के यौगिक शब्दों से समास बनते हैं। एक यौगिक शब्द दूसरे यौगिक शब्द से मिलकर एक समस्त (यौगिक) शब्द को जन्म देता है। कभी कभी दो शब्द इतने अधिक मिल जाते हैं कि उनमें से एक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। शब्द की इस वृत्ति को एकशेष कहते हैं। जैसे माता और पिता का योग होकर एक यौगिक शब्द बनता है 'पितरौ'। इन चार वृत्तियों से नाम शब्द ही बनते हैं पर कभी कभी नाम के योग से धातुएँ भी बनती हैं, जैसे पाचक से पाचकायते बनता है। ऐसी योगज धातुएँ नामधातु कहलाती हैं और उनकी वृत्ति 'धातुवृत्ति' कहलाती है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो भाषा के सभी यौगिक शब्द इन पाँच वृत्तियों के अंतर्गत आ जाते हैं। कृदंत, तद्धितांत, समास, एकशेष, और नाम धातुओं को निकाल लेने पर भाषा में केवल दो ही प्रकार के शब्द रह जाते हैं—धातु और प्रातिपदिक (अव्युत्पन्न रूढ़ शब्द)। इस प्रकार भाषा रूढ़ और यौगिक—इन्हीं दो प्रकार के शब्दों से बनती है। पर अर्थातिशय की दृष्टि से एक प्रकार के शब्द ऐसे होते हैं जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ हो जाते हैं। ऐसे शब्द योगरूढ़ कहे जाते हैं। यह शब्द की तीसरी अवस्था है। जैसे धवल गृह का अर्थ होता है 'सफेदी किया हुआ घर', पर धीरे धीरे धवल गृह का प्रयोगातिशय से 'महल' अर्थ होने लगा। इस अवस्था में धवलगृह योगरूढ़ शब्द है। धवलः गृहः और धवल गृह का अब पर्याय जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। यही योगरूढ़ि संस्कृत के नित्य-समासों का मूल कारण है।

कृष्णसर्पः है तो यौगिक शब्द, पर धीरे धीरे उसका संकेत एक सर्प-विशेष में रूढ़ हो गया है। अतः वह समस्तावस्था में ही उस विशेष अर्थ का बोध करा सकता है अर्थात् कृष्ण सर्प में नित्य समास है। कुछ विद्वानों ने तो सभी समासों को योगरूढ़ माना है। विग्रह वाक्य की अपेक्षा समास में सदा अर्थ-वैशिष्ट्य रहता है इसी से नैयायिकों के अनुसार समास* में एक विशेष शक्ति आ जाती है। सच पूछा जाय तो प्रयोगातिशय से समृद्ध भाषा के अधिक शब्दों में योगरूढ़ि पाई जाती है। अर्थातिशय के विद्यार्थी के लिये योगरूढ़ि का अध्ययन बड़ा लाभकर होता है।

साहित्यिक खड़ी बोली में आजकल संस्कृत के ही समास अधिक चलते हैं पर डाकघर, रामदाना, लोहूलुहान, मनचाही, मनमानी, मनचली, पियराकाटी, लाठीमार, गिरहकट, बदरफट, रातोंरात, दुधमुँहा, ललमुँहा, पँचमेल, बारहमजा, रेशमकटरा, बाँस-फाटक, दूधभात, पूड़ी-साग, घर-बार, तन-मन आदि के समान तद्भव और ठेठ भाषा के समासों की भी कमी नहीं है। इन्हीं चलते शब्दों का विचार भी आवश्यक है। अब यदि इन समस्त शब्दों के स्थान पर हम विग्रहवाक्यों का प्रयोग करें तो

हिंदी के समास

---

* समासे खलु भिन्नैव शक्तिः। (शब्दशक्तिप्रकाशिका)

क्या कभी अच्छा लगेगा ? कभी नहीं। डाक का घर, फटे बादलवाला (घाम) आदि विग्रह वाक्यों से डाकघर और बदरफट का पूरा अर्थ कभी नहीं निकल सकता।

इन्हीं सब कारणों तथा अन्य अनेक कारणों से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कहीं अच्छे शब्दों का बुरा अर्थ होने लगता है और कहीं इसके विपरीत बुरे का अच्छा अर्थ हो जाता है। कभी अपवित्र, अशुभ या अप्रिय भावों को सूचित करने के लिये सुंदर शब्दों का प्रयोग होता है। किसी अवस्था में अमूर्त भावों का मूर्त अर्थ और मूर्त पदार्थों का अमूर्त अर्थ होने लगता है। इसी प्रकार व्यापक अर्थों का संकुचित अर्थ हो जाता है और संकुचित भावों के द्योतक शब्दों का व्यापक अर्थ में प्रयोग होने लगता है। कभी कभी रूपक के कारण शब्दों का कुछ और भी भाव होता है और कभी एक ही शब्द भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अनेक अर्थ देने लगते हैं। इसी प्रकार वस्तुओं के नामकरण के संबंध में भिन्न भिन्न वस्तुओं के नाम-रूप रंग तथा आकार आदि के कारण पड़ जाते हैं और कभी एक शब्द के दो टुकड़े होकर दोनों अलग अलग अर्थ देने लगते हैं। सारांश यह है कि हिंदी में अर्थ-विकार साधारणतः तीनों प्रकार से होता है। विपर्यय, विस्तार और संकोच इन तीन श्रेणियों में प्रायः सब शब्दों के अर्थ-विकार आ जाते हैं। अधिक विस्तृत और व्यापक अध्ययन के लिये भाषा-विज्ञान की पुस्तकों को देखना चाहिए।

दूसरा वर्गीकरण

अभिधाशक्तिवाले शब्दों का एक वर्गीकरण हम देख चुके—१ रूढ़, २ यौगिक और ३ योगरूढ़। यह विकास और व्युत्पत्ति की दृष्टि से किया जाता है। दूसरा वर्गीकरण देशी विदेशी के भेद और प्रत्यक्ष व्यवहार के आधार पर किया जाता है। इस दूसरे वर्गीकरण के अनुसार मुख्य तीन भेद होते हैं—तत्सम, तद्भव और देशी। इनका विवेचन वास्तव में भाषा के विकास का सच्चा रूप सामने ला देता है। यदि पहले वर्गीकरण का आधार ऐतिहासिक व्याकरण है तो दूसरे का आधार तुलना और इतिहास दोनों हैं। इस वर्गीकरण के महत्त्व का विचार करके ही हमने इसके लिये एक अध्याय अलग रखा है। उसका नाम है 'विदेशी प्रभाव'। प्रारंभिक इतिहास के विचार से उसका स्थान पहले रखा गया है पर हिंदी के

अर्थ-विकास के विचार से विदेशी प्रभाववाला अध्याय इसी अध्याय में आ जाना चाहिए।

इस दूसरे वर्गीकरण को आधार बनाकर बड़ा सुंदर विवेचन तैयार हो सकता है। जैसे कुछ शब्द तत्सम रूप में आज भी विद्यमान हैं पर उनके अर्थ सर्वथा भिन्न हो गए हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन काल में धर्म का अर्थ होता था अपना कर्त्तव्य और आज की हिंदी में उसका अर्थ है मजहब अथवा संप्रदाय। प्राचीन काल के आर्य (श्रेष्ठ के अर्थ में), मृग (पशु मात्र के अर्थ में), व्यथा (काँपने के अर्थ में) आदि शब्द आज भी तत्सम रूप में प्रयुक्त होते हैं पर उनके अर्थ बिलकुल उलट गए हैं। सहयोग और असहयोग शब्द भी पुराने हैं पर अब उनमें राजनीतिक अर्थ भर गया है। इसी प्रकार तद्भव शब्दों में भी अर्थ-विकार देख पड़ता है। 'बाई' शब्द संस्कृत के 'वती*' और 'माता' से अलग अलग बना है पर अब वह मा, बहिन, स्त्री, भद्र स्त्री, अध्यापिका, गणिका आदि अनेक अर्थों में आता है।

अंत में देशी और विदेशी शब्दों का तो यहाँ उल्लेख मात्र पर्याप्त है। देशी शब्दों की खोज से बड़े बड़े रहस्यों का पता लग सकता है और विदेशी प्रभाव की चर्चा तो हम अभी अभी कर चुके हैं। तो भी किस प्रकार विदेशी भाव और अर्थ हिंदी पर प्रभाव डाल रहे हैं, इसका एक मनोरंजक उदाहरण हम अवश्य देंगे। संस्कृत में होता है अभाव-निवृत्ति = अभाव को दूर करना और अँगरेजी में चलता है उस अभाव की पूर्ति करना। संस्कृत के अर्थानुसार देखा जाय तो अभावपूर्ति का अर्थ होगा अभाव को और भी बढ़ाना पर हिंदीवालों ने अँगरेजी भाव लेकर संस्कृत के तत्सम शब्द में भर दिया है। इस प्रकार के विदेशी अर्थवाले संस्कृत शब्द आजकल की छायावादी कविता में बहुत अधिक हैं। गद्य में भी उनकी कमी नहीं है। समाचारपत्रवाले नित्य ही संस्कृत की खाल ओढ़ाकर अँगरेजी शब्दों की प्राण-प्रतिष्ठा किया करते हैं।

भाषा का मर्म और सच्चा विकास देखने के लिये इन सभी बातों का विचार करना पड़ता है। और इस समझने की पद्धति का नाम है

---

* दो शब्दों के तद्भव रूप हिंदी में एक से मिलते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसे कर्म्म = काम और कामः = काम।

व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति करने के लिये ध्वनिविचार, रूपविचार और अर्थ-विचार—तीनों का ही ज्ञान होना चाहिए। इस सबका तात्पर्य यह है कि यह पूरा अध्याय व्युत्पत्ति का ही अध्याय है।

सच पूछा जाय तो हमारा पूरा विवेचन ही दिग्दर्शन मात्र है। हमारा लक्ष्य केवल इतना है कि विद्यार्थी इस इतिहास को देखकर हिंदी भाषा का वैज्ञानिक इतिहास पढ़ने और खोजने में प्रवृत्त हों। नहीं तो इतना लिख चुकने पर भी हमें यह प्रकरण अधूरा और अपूर्ण लग रहा है; क्योंकि हिंदी के लिंग, वचन, संख्यावाचक विशेषण, संयुक्त क्रिया, शब्द-शक्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर हम कुछ भी नहीं लिख पाए हैं। अतः हमारी अध्यापकों और विद्यार्थियों से प्रार्थना है कि वे इस प्रकरण को यथासंभव पूर्ण बनाकर पढ़ें। भारतवर्ष की भाषाओं के इतिहास की अभी बहुत कम खोज हुई है; पर इसके लिये सामग्री इतनी अधिक उपस्थित है कि एक नहीं सैकड़ों विद्वानों का वर्षों तक सब समय इसके रहस्यों के उद्घाटन में लग सकता है। जिस प्रकार भारतीय आर्य जाति प्राचीनता के भव्य भाव से गौरवपूर्ण हो रही है और उसका अभी तक कोई शृंखलाबद्ध पूर्ण इतिहास नहीं उपस्थित हो सका है, उसी प्रकार उसकी भिन्न भिन्न भाषाओं की आदि से लेकर अब तक की सब ऐतिहासिक शृंखलाओं का भी पता नहीं लगा है। आशा है, हिंदी भाषा के मुख्य मुख्य तथ्यों का यह परिचय इस खोज में प्रोत्साहन देने और इसकी खोज का भावी मार्ग सुगम बनाने में सहायक होगा। भारतीय विद्वान् ही अपनी भाषाओं के तथ्यों और रहस्यों को भली भाँति समझ सकते हैं; अतएव उन्हीं को इस काम में दत्तचित्त होकर अपने गौरव की रक्षा करना और अपनी भाषाओं का इतिहास स्वयं उपस्थित करना चाहिए।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अन्य जन वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर वाणी के मर्मज्ञ वैयाकरण को वाणी सुवसना नव-वधू की भाँति अपने अंग-प्रत्यंग दिखला देती है।

———

अनुक्रमणिका

स

ह

——

